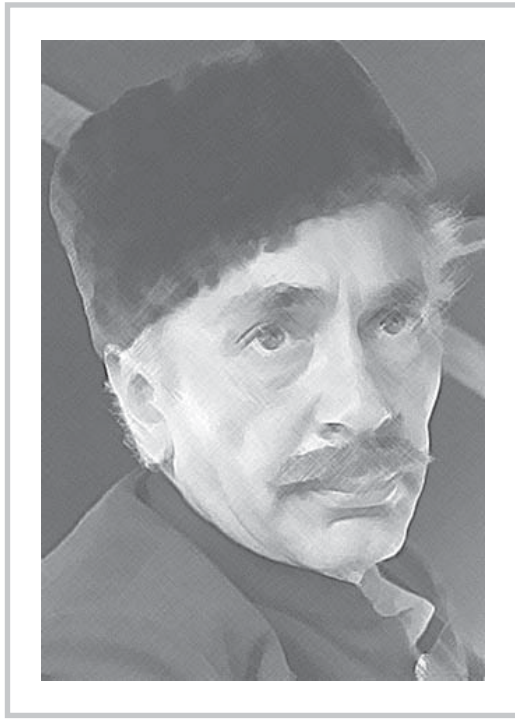


आज के साहित्यकारों से अपील



बलराज साहनी

आज के साहित्यकारों से अपील

प्रकाशक :

isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,

62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका

नई दिल्ली-110067

टेलीफोन 011-26196356, टेलीफैक्स 011-26177904

ईमेल : notowar@rediffmail.com

वेबसाइट : isd.net.in

प्रकाशन वर्ष : 2011

केवल सीमित वितरण के लिए

पुस्तिका सीरीज़—43

आज के साहित्यकारों से अपील

बलराज साहनी

भूमिका

हिंदी सिनेमा के बड़े अभिनेता बलराज साहनी जाने-माने लेखक भी थे। अपनी प्रतिबद्धता के लिए उन्हें दर्शकों और पाठकों से अभिवादन और सराहना खूब मिली। वे इप्ता और प्रगतिशील लेखक संघ से भी जुड़े और रंगमंच के प्रति अपने लगाव से कभी अलग नहीं हुए।

यहां प्रकाशित, उद्बोधित और आवेगजन्य पत्र बलराज साहनी ने 1970 के आस-पास लिखा था। उन दिनों उनका पता, टर्नर रायल लेन, जुहू, मुंबई था। एक पैंफलेट की शक्ति में यह पत्र 1972 में दिल्ली के एक प्रेस से छपा और श्री साहनी ने उसे अपने कुछ लेखक मित्रों को भेजा। दो वर्ष तक हिंदी की कुछ तत्कालीन पत्रिकाओं में प्रकाशन के प्रयास में असफल हो जाने के बाद बलराज साहनी ने यह निजी कार्रवाई की। वास्तव में हिंदी पत्रिकाओं ने इसे प्रकाशित करने से इनकार कर दिया था।

1970 के आस-पास मुंबई में एक बड़ा उर्दू कन्वेंशन हुआ था। इसके पीछे सर्वश्री मुल्कराज आनंद, कृष्णचंदर, सज्जाद ज़हीर और राजेंद्र सिंह बेदी जैसे प्रसिद्ध लेखक थे। इसके बाद श्री साहनी में गहरी प्रतिक्रिया हुई। इस कन्वेंशन के बाद पर्याप्त वाद-विवाद जारी रहे। बलराज जी की यह समझ थी कि लंबाई या विचारों की अप्रियता के कारण उनका पत्र नहीं छप सका। भाषाओं को लेकर सांप्रदायिक सोच और अपनी सांस्कृतिक सत्ता प्रसार के बीज काफी पुराने हैं और अब वे लहलहा रहे हैं।

इस पत्र को प्रकाशित करने का एक उद्देश्य यह भी है कि हम एक लेखक, विचारक और अभिनेता के भीतर की उस बेचैनी को समझ सकें जिसका स्वागत तत्कालीन समाज में नहीं हो सका। - ज्ञानरंजन

(प्रस्तुत पुस्तिका की सामग्री अनूठे संग्रहकर्ता और साहित्यकुबेर स्व. दिनेश शर्मा से प्राप्त हुई थी।)

कभी मेरा भी नाम हिंदी लेखकों में गिना जाता था। मेरी कहानियां अपने समय की प्रमुख हिंदी पत्रिकाओं - विशाल भारत, हंस आदि में- नियमित रूप से प्रकाशित हुआ करती थीं। बच्चन, अज्ञेय, अमृतलाल नागर, चंद्रगुप्त विद्यालंकार, उपेंद्रनाथ अशक - सब मेरे समकालीन लेखक और प्रिय मित्र हैं।

मेरी शुरू की जवानी का समय था वह- बहुत ही प्यारा, बहुत हसीन। मैंने कुछ समय शांतिनिकेतन में गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर के पास, और कुछ समय सेवाग्राम में गांधी जी के चरणों में बिताया। मेरा जीवन बहुत समृद्ध बना। शांतिनिकेतन में मैं हिंदी विभाग में काम करता था। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी मेरे अध्यक्ष थे। उनकी छत्रछाया में हिंदी जगत के साथ मेरा संबंध दिन प्रतिदिन गहरा होता गया। सन् 1939 के अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन में वे मुझे भी अपने संग प्रतिनिधि बना कर बनारस ले गये थे, और वहां मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, बनारसीदास चतुर्वेदी, निराला और साहित्य के अन्य कितने ही महारथियों से मिलने और उनके विचार सुनने-जानने का मुझे गौरव प्राप्त हुआ।

यद्यपि आजकल मैं हिंदी में नहीं, बल्कि अपनी मातृभाषा पंजाबी में लिखता हूं, फिर भी आप लोगों से खुद को अलग नहीं समझता। आज भी मैं हिंदी फ़िल्मों में काम करता हूं, हिंदी-उर्दू रंगमंच से भी मेरा अटूट संबंध रहा है। ये चीज़ें, अगर साहित्य का हिस्सा नहीं तो उसकी निकटवर्ती ज़रूर हैं।

हिंदी हमारे देश की एक विशेष और महत्वपूर्ण भाषा है। इसके साथ हमारी राष्ट्रीय और भावनात्मक एकता का सवाल जुड़ा हुआ है। और इस दिशा में, अपनी अनेक बुराइयों के बावजूद, हिंदी फिल्में अच्छा रोल अदा कर रही हैं।

लेकिन इस असलियत की ओर से भी आंखें बंद नहीं की जा

सकतीं कि हिंदी, कई दृष्टियों से, अपने क्षेत्र में और उससे बाहर भी कई प्रकार से सांप्रदायिक और प्रांतीय बैर-विरोध और झगड़े-झमेलों का कारण बनी हुई है। कई बार तो डर लगने लगता है कि कहीं एकता के लिए रास्ते साफ करने के बजाय वह उन रास्तों पर कांटे तो नहीं बिछा रही, जो हमें उन्नति और विकास के बजाय अधोगति और विनाश की ओर ले जाना चाहती है, जो हमारे पांवों में फिर से साम्राज्यवादी गुलामी की बेड़ियां पहनाना चाहती हैं।

उर्दू कन्वेंशन

पिछले साल, दिसंबर में, बंबई में एक उर्दू-कन्वेंशन बुलाई गयी थी, जिसके सूत्रधार, डॉ. मुल्कराज आनंद, कृष्ण चंदर, सज्जाद ज़हीर, राजेंद्र सिंह बेदी और अली सरदार जाफरी जैसे प्रसिद्ध प्रगतिशील लेखक थे। मैं उस समय बंबई में नहीं था, सो मुझे इस बात की ज़्यादा जानकारी नहीं है कि कन्वेंशन में क्या कुछ हुआ। लेकिन जब मैं वापस आया तो यह सुनकर बेहद हैरानी हुई कि हिंदी का एक भी प्रगतिशील लेखक इस कन्वेंशन में शामिल नहीं हुआ था। ऐसे लगा, जैसे हिंदी-उर्दू के सवाल पर प्रगतिशील लेखक संघ का, अंदर-ही-अंदर, उसी प्रकार बंटवारा हो चुका है, जैसे हिन्दू-मुस्लिम सवाल पर हिंदुस्तान का बंटवारा हो चुका है। मुझे बहुत गहरी निराशा हुई।

साथ ही, इस बात पर सख्त हैरानी भी हुई कि कन्वेंशन की प्रौढ़ता बनाने के लिए सिक्ख युवकों का एक काफी बड़ा जत्था भी बंबई आया हुआ था, हालांकि हर कोई इस बात को जानता है कि उर्दू वाले कल तक उर्दू को ही पंजाब की भाषा मानते थे, और पंजाबी को उपभाषा का दर्जा देते थे। अनायास ही मेरे मन में एक मलिन-सा संशय उठा कि कहीं उर्दू को अल्पसंख्यकों की भाषा करार देकर उसकी रक्षा के लिए अल्पसंख्यक जातियों को तो नहीं उकसाया जा रहा। कहीं उर्दू की रक्षा करने के लिए पंजाबी को केवल सिक्खों की भाषा तो नहीं बनना पड़ रहा? मन में यह घटिया विचार उठने पर मैंने खुद को फटकारा। बेशक, पंजाबी साहित्य

के क्षेत्र में इस समय सिक्ख लेखक ही अधिक संख्या में हैं, लेकिन पंजाबी को सिक्खों की भाषा मानने का दावा कभी किसी ने नहीं किया। फिर, देश के इतने बड़े प्रगतिशील, मार्क्सवादी विद्वानों से कभी सपने में भी आशा नहीं की जा सकती कि वे भाषा की समस्या को सांप्रदायिक राजनीति से जोड़ेंगे। लेकिन फिर भी रह-रह कर चिंता घेर लेती थी। एक बार पहले मेरा वतन पंजाब सांप्रदायिक राजनीति की छुरी के नीचे अपना सिर दे चुका था, और लाखों लोगों को व्यर्थ में कुर्बान होना पड़ा था। कहीं किस्मत एक और बरबादी की शुरुआत तो नहीं कर रही, और यह सोच कर मीठी नींद लेते रहे थे कि 'ऐसे भला कैसे हो सकता है?'

बाद में, नई कहानियां में अमृतराय के दो संपादकीय लेख छपे। उसी पत्रिका में यशपाल, अमृतलाल नागर और नरेंद्र शर्मा आदि द्वारा उर्दू-कन्वेंशन संबंधी दिये गये वक्तव्यों को पढ़कर मेरी चिंता और बढ़ी फिर उपलब्धि नामक पत्रिका का एक पूरा अंक इस कन्वेंशन के लिए अर्पित किया गया देखा, जिसमें डॉ. धर्मवीर और अन्य कई लेखकों के विचार पढ़ने को मिले। धर्मयुग में प्रकाशित टीका-टिप्पणियां भी देखीं। मुझे लगा कि मानसिक अशांति केवल मेरे तक ही सीमित नहीं थी।

और आज यही मानसिक अशांति मुझे मजबूर कर रही है कि आपके सामने अपना दिल खोलूं, अपने जीवन के कुछ अनुभव और विचार पेश करूं। मैं जानता हूं कि आप देश की भलाई, एकता और प्रगति के इच्छुक हैं, और आशा करता हूं कि जो कुछ अच्छा-बुरा मैं कहूंगा, उसे पूरी सद्भावना से परखेंगे। अगर मेरे मुंह से कोई बुरी या नाज़ायज बात भी निकल जाये, तो मुझे अपना भाई या साथी समझकर माफ़ कर देंगे।

अब मैं अपनी बात पर आऊं।

मेरे भाषा संबंधी अनुभव :

मैं जब शांतिनिकेतन में था, तो गुरुदेव टैगोर मुझे बार-बार कहा करते थे, 'तुम पंजाबी हो, पंजाबी में क्यों नहीं लिखते? तुम्हारा उद्देश्य होना चाहिए कि अपने प्रांत में जाकर वही कुछ करो, जो हम यहां कर रहे हैं।'

मैंने जवाब में कहा, हिंदी हमारे देश की भाषा है। हिंदी में लिख कर मैं देश भर के पाठकों तक पहुंच सकता हूँ।

वे हंस देते, और कहते, 'मैं तो केवल एक प्रांत की भाषा में ही लिखता हूँ, लेकिन मेरी रचनाओं को सारा भारत ही नहीं, सारा संसार पढ़ता है। पाठकों की संख्या भाषा पर निर्भर नहीं करती।'

मैं उनकी बातें एक कान से सुनता और दूसरे कान से निकाल देता। बचपन से ही मेरे मन में यह धारणा पक्की हो चुकी थी कि हिंदी पंजाबी के मुकाबले कहीं ऊंची और सभ्य भाषा है। वह एक प्रांत की नहीं, बल्कि सारे देश की राष्ट्रीय भाषा है (उन दिनों देश संबंधी मेरा ज्ञान उत्तरी भारत तक ही सीमित था)।

एक दिन गुरुदेव ने जब फिर वही बात छोड़ी तो मैंने चिढ़कर कहा, 'पता नहीं क्यों, आप मुझे यहां से निकालने पर तुले हुए हैं। मेरी कहानियां हिंदी की सर्वश्रेष्ठ पत्रिकाओं में छप रही हैं। पढ़ाने का काम भी मैं चाव से करता हूँ। अगर यकीन न हो तो मेरे विद्यार्थियों से पूछ लीजिए। जिस प्रेरणादायक वातावरण की मुझे ज़रूरत थी, वह मुझे प्राप्त है। आखिर मैं यहां से क्यों चला जाऊँ?'

उन्होंने कहा, 'विश्व भारती का आदर्श है कि साहित्यकार और कलाकार यहां से प्रेरणा लेकर अपने-अपने प्रांतों में जाएं और अपनी भाषाओं और संस्कृतियों का विकास करें तभी देश की सभ्यता और संस्कृति का भंडार भरपूर होगा।'

'आपको पंजाबी भाषा और संस्कृति के बारे में गलतफहमी है।' मैंने कहा, 'हिंदुस्तान से अलग कोई पंजाबी संस्कृति नहीं है। पंजाबी भाषा भी वास्तव में हिंदी की एक उपभाषा है। उसमें सिक्ख-धर्मग्रंथों के अलावा और कोई साहित्य नहीं है।'

गुरुदेव चिढ़ गये। कहने लगे, 'जिस भाषा में नानक जैसे महान कवि ने लिखा है, तुम कहते हो उसमें कोई साहित्य नहीं है।'

और जब मैंने अपने जीवन में पहली बार उनके मुख से गुरु नानक की ये पंक्तियां सुनी :

गगन में थाल रवि चंद्र दीपक बने
तारक मंडल जनक मोती
धूप मलयानलो पवन चंचरो करे
सगल वनराय फूलंत जोती ।...

और अगर मुझे याद धोखा नहीं देती, तो गुरुदेव ने साथ में यह भी कहा था, 'कबीर की वाणी का अनुवाद मैंने बंगाली में किया है, लेकिन नानक की वाणी का अनुवाद का साहस नहीं हुआ। मुझे डर था कि मैं उनके साथ इंसोफ नहीं कर सकूंगा।'

उसी शाम आचार्य क्षितिमोहन सेन के साथ नंगे पांवां लंबी सैर पर जाने का मौका मिला, जो भक्तिकाल संबंधी सर्वोच्च खोजी और विद्वान माने जाते हैं। जब उनसे गुरुदेव के साथ हुई बातचीत का जिक्र छिड़ा, तो अचानक उनके मुंह से निकला, 'पराई भाषा में लिखने वाला लेखक वेश्या के समान है। वेश्या धन-दौलत, मशहूरी और ऐशइशरत भरा घरबार सब कुछ प्राप्त कर सकती है, लेकिन एक गृहिणी नहीं कहला सकती।'

मैं मन ही मन बहुत खीझा। बंगाली लोग प्रांतीय संकीर्णता के लिए प्रसिद्ध थे। लेकिन टैगोर और क्षितिमोहन जैसे व्यक्ति भी उसका शिकार होंगे, यह मेरे लिए आश्चर्य की बात थी।

गांधी जी के विचार

फिर मुझे एक और धक्का लगा। शान्तिनिकेतन से मुझे कुछ समय के लिए 'बुनियादी तालीम' संस्था की पुस्तकें अनुवाद करने के लिए सेवाग्राम जाना पड़ा। वहां गांधी जी को निकट से देखने का मौका मिला। और यह देखकर हैरानी हुई कि वे अपना अधिकांश लेखन-कार्य गुजराती में करते थे। गांधी जी पर मैं प्रांतीय मनोवृत्ति का दोष कैसे लगा सकता था, जबकि वे हमारी राष्ट्रीय चेतना के जन्मदाता थे? राष्ट्रभाषा 'हिंदी-हिंदुस्तानी' सबसे बड़ा प्रकाश-केंद्र भी तो वही थे। फिर, वे राष्ट्रभाषा को छोड़कर अपनी प्रांतीय भाषा में क्यों लिखते थे?

इस बारे में एक दिन मैं उनसे पूछ ही बैठा। मेरा सवाल सुनकर वे भौंचक्के रह गये, जैसे सोचने लगे हों कि कोई पढ़ा-लिखा व्यक्ति ऐसा बचकाना सवाल कैसे पूछ सकता है। आखिर उन्होंने कहा, मातृभाषा तो मां के दूध जैसी मीठी होती है। राष्ट्रभाषा का मनोरथ प्रांतीय भाषाओं को खत्म करना नहीं, बल्कि उनकी रक्षा करना है, उन्हें एक-दूसरी के निकट लाना और प्रेमसूत्र में पिरोना है।

मैं फिर भी न समझ सका। मेरे दिमाग में कई सवाल उठ रहे थे। गांधी जी हिंदी-हिंदुस्तानी को एक सीधी-सादी और आम बोलचाल की भाषा तक सीमित रखना चाहते थे, जिसमें न तो मोटे-मोटे फ़ारसी शब्दों का प्रयोग हो, न ही बड़े-बड़े संस्कृत शब्दों का। इसके लिए वे लिपियां भी दो चाहते थे-देवनागरी और फ़ारसी। ये दोनों बातें ही मुझे अव्यावहारिक लगती थीं। हिंदी को किस हद तक, कब तक और क्यों केवल आम बोलचाल की भाषा रखा जायेगा? उसके विकास पर क्यों बंधन लगाये जायेंगे, जबकि वे बंधन प्रांतीय भाषाओं पर नहीं लगाए जाते। राष्ट्रभाषा को तो प्रांतीय भाषाओं की अपेक्षा कहीं अधिक समृद्ध बनाना चाहिए। और एक भाषा के लिए दो लिपियों को परवान करना कहां की अक्लमंदी है?

मुझे याद है, इस समस्या के बारे में उन दिनों मेरे मन में निरंतर उथल-पुथल मची रहती थी। मैं मौका ढूंढता रहता कि कब गांधी जी के साथ दोबारा इस बारे में बातचीत करूं। लेकिन वह मौका न मिला। दूसरा विश्वयुद्ध शुरू हो चुका था, और गांधी जी राजनैतिक मामलों में बहुत ज़्यादा उलझ गये थे।

एक दिन उन्हें मिलने के लिए ऑल इंडिया रेडियो के अंग्रेज़ डायरेक्टर-जनरल, मिस्टर लाइनल फ़ील्डन, वहां आये। वे हिंदुस्तान से इस्तीफ़ा देकर लंदन के बी.बी.सी. में हिंदुस्तानी विभाग खोलने के लिए जा रहे थे। वे अपने तुरंत और हंगामी फ़ैसलों के लिए अद्वितीय थे। वे आये थे गांधी जी को अलविदा कहने, लेकिन जाते समय मुझे अपने साथ रेडियो अनाउन्सर के रूप में लंदन ले गये।

लंदन में

उस ज़माने में, रेडियो पर उर्दू का वैसा ही बोलबाला था, जैसा आज हिंदी का है। शुरू से अंत तक सभी काम उर्दू लिपि और उर्दू भाषा में ही किये जाते थे। और मैं इन दोनों में लगभग कोरा था। हिंदुस्तान से चलने से पहले कई बार दिल में आया था कि फ़िल्डन से इस बारे में खुलकर बात करूं, लेकिन लंदन और युद्ध को निकट से देखने का चाव मुझे रोकता रहा।

दो-तीन अनाउंसर वहां पहले से पहुंच चुके थे। सभी उर्दू के माहिर उस्ताद। वे हिंदी न जानते थे, न उसे गिनती में लाते थे। उर्दू से अनजान होने के अलावा मेरी एक और कमज़ोरी यह थी कि माइक्रोफ़ोन पर बोलने का तजुर्बा भी मुझे बहुत कम था। फिर, बोलने का लहजा इतना ज़्यादा पंजाबी कि अपनी पहली रिकार्डिंग सुन कर मेरे अपने कान फटने को आ गये थे। तब मेरा सारा अहंकार मिट्टी में मिल गया कि फ़िल्डन मुझे सेवाग्राम से विशेष रूप से अपने साथ लंदन लाये थे। आख़िर मैं भी उनकी नज़र में खटकने लगा। फिर तो मुझे साफ़ दिखाई देने लगा कि वहां मेरा ज़्यादा देर टिकना संभव नहीं था।

मेरा मन गुस्से और ग्लानि से भर गया। एक तो, मैंने खुद इस नौकरी की मांग नहीं की थी, बल्कि सारे आश्रमवासियों को नाराज़ और दुखी करके आया था। दूसरे, एक साहित्यकार के तौर पर मेरा कुछ महत्त्व था। मैं हिंदी के पहली श्रेणी के कहानीकारों में गिना जाता था। मेरी कई रचनाएं उर्दू में अनूदित होकर अदबे लतीफ़ जैसी प्रसिद्ध पत्रिकाओं में छप चुकी थीं। इस सब कुछ का क्या कोई महत्त्व नहीं था? क्या हिंदी भाषा के अपने अधिकार नहीं थे? जिस भाषा में प्रेमचंद, जैनेंद्र कुमार, अज्ञेय, यशपाल, बच्चन, सुमित्रानंदन पंत जैसे महान साहित्यकारों ने लिखा हो, उसे इस प्रकार अवहेलना की दृष्टि से देखना क्या पहले दर्जे का अन्याय नहीं था? रहा सवाल पंजाबी लहजे का। उसे सुधारते कौन सी देर लगती है। किसी की थोड़ी मदद और अभ्यास ही की तो ज़रूरत है।

यह बात मुझे दिन प्रतिदिन स्पष्ट हो रही थी कि अगर मैंने अपने बचाव के लिए खुद कोई कोशिश न की, तो बिस्तर गोल होने में ज़्यादा देर नहीं लगेगी। मैं सारी-सारी रात बिस्तर पर करवटें बदलता सोचता रहता। आखिर क्या करूं? क्यों न बी.बी.सी. के डायरेक्टर-जनरल को मिल कर अपना दुख उनके सामने रखूं और इस घोर अन्याय का पर्दाफ़ाश करूं। मैं लाइनल फ़ील्डन को मुंह की खिला सकता था। भारत के हिंदी समर्थकों को उकसा कर उनके लिए अच्छा ख़ासा सिरदर्द पैदा कर सकता था।

लेकिन फिर, मन में दूसरी तरह के विचार मंडराने लगते। मैं गांधी जी के चरणों से उठ कर अंग्रेजों के क़दमों में गिरा था। यह कोई मामूली गिरावट नहीं थी। और अब शिकायती टट्टू बनना, अपने घर के लड़ाई-झगड़ों को दुश्मन के सामने नंगा करना, उससे न्याय की मांग करना, क्या यह शर्म से डूब मरने वाली बात नहीं होगी? दूसरों की इज़्ज़त उछालते हुए क्या मेरी इज़्ज़त रह जायेगी? इससे देश का अपमान न होगा? अंग्रेज़ अफसरों को मुंह मांगी मुराद नहीं मिल जायेगी? हमारी अनबन का वे पूरा लाभ नहीं उठायेंगे? फिर, लाइनल फ़ील्डन आम अंग्रेज़ अफसरों जैसे नहीं थे। वे गांधी के भक्त थे, और हिंदुस्तान की आज़ादी के सच्चे चाहवान। वे वाइसराय तक को नाराज़ करके इस ख़याल से मुझे अपने साथ ले गये थे कि मेरा व्यक्तित्व आप जी-हुजूरी करने वाले सरकारी कर्मचारियों से कुछ अलग होगा। क्या ऐसे व्यक्ति के विश्वास को तोड़ना उचित होगा?

एक दिन मैं कैटीन में कॉफी पी रहे अपने साथियों के सामने फूट पड़ा, 'हिंदी के हक़ मनवाने का बीड़ा उठा कर मैं भी आप लोगों को उतना ही परेशान कर सकता हूं, जितना इस समय आप मुझे कर रहे हैं। नतीजा हम दोनों के लिए बुरा होगा। फ़ायदा होगा तो सिर्फ़ अंग्रेजों का। हमारी क़ौमी इज़्ज़त मिट्टी में मिल जायेगी। मैं आपके आगे एक प्रार्थना करता हूं। मगर आप लोग मेरी बेक़द्री करना छोड़ दें, बल्कि मेरी मदद करें, तो मैं दिन-रात मेहनत करके थोड़े-से अरसे में ही उर्दू सीख लूंगा। उर्दू मैंने

सातवीं जमात तक पढ़ी हुई भी है।’

इस सुझाव का मेरे साथियों पर बहुत अच्छा असर पड़ा। विदेश में प्रत्येक व्यक्ति की राष्ट्रीय भावना जाग उठती है। मेरे साथियों ने महसूस किया कि मैंने अच्छी और सही बात की थी। उसी दिन से उनके साथ मेरे संबंध अच्छे बन गये। सबने दिल खोलकर मेरी मदद करनी शुरू कर दी। दो-तीन महीनों में ही उर्दू में अच्छी तरह अपना काम करने लगा। पूरे चार साल मैं वहां रहा। इस अरसे में कभी एक बार भी अंग्रेज़ हमें एक-दूसरे के प्रति न भड़का सके। हमारा आपसी प्यार और भाईचारा दूसरे विभागों के लिए भी एक अच्छा उदाहरण बन गया था। वह समय बहुत अच्छा बीत गया।

उर्दू साहित्य का अध्ययन

उर्दू साहित्य का अध्ययन करने से मेरी आंखें खुल गईं। ऐसे लगा, जैसे कोई खोया हुआ खज़ाना मिल गया हो। मन में समाये सभी वैर-विरोध और ग़लत धारणाएं ख़त्म हो गईं। कितना विशाल, कितना गौरववान था उर्दू साहित्य। ग़ालिब की ग़ज़लें पढ़ते हुए ऐसे लगता है, जैसे मेरी आत्मा पर कोई नया सूर्योदय हो रहा हो। इसी प्रकार अद्वितीय और अविस्मरणीय आनंद कालेज के ज़माने में शैली की रचना *प्रोमीथियस अनबाउंड* और शेक्सपीयर का नाटक *हेनरी फोर्थ-भाग पहला* पढ़ कर आया था। ऐसी अनुभूतियां जीवन की पूंजी बन जाती हैं।

कितने सुंदर लगते थे उर्दू कविता में फ़ारसी शब्द! कितनी चुस्ती, कितनी लचक, कितनी शालीनता थी इस भाषा में! हर एक शेर में अर्थ और भाव का एक पूरा संसार सिमटा होता था, जैसे बूंद में सागर समा गया हो। अब तक मैं प्रेमचंद को हिंदी का लेखक मानता था, तब ज्ञात हुआ कि वे उर्दू लेखक कहलाने के और भी ज़्यादा हक़दार थे। मुझे विश्वास हो गया कि हिंदी और उर्दू को अलग-अलग भाषाएं कहना सरासर ग़लती है। दोनों एक ही भाषा के दो रूप हैं। दोनों एक-दूसरे के बिना न जी सकती हैं, न फलफूल सकती हैं। इसके बारे में सही

दृष्टिकोण वही है जो प्रेमचंद का था- दोनों को जानना, दोनों में लिखना, दोनों को लोक-जीवन और बोल-चाल की भाषा के निकट लाना, दोनों को एक-सा प्यार करना। यहां नफरतों का कोई काम नहीं था। उर्दू का अच्छा लेखक बनने के लिए हिंदी का ज्ञान ज़रूरी था और हिंदी का अच्छा लेखक बनने के लिए उर्दू का। इस असलियत को नज़रअंदाज़ करना वैसा ही होगा जैसा कोई आदमी अपनी दोनों आंखें इस्तेमाल करने के बजाए एक आंख बंद कर ले।

रोज़गार की मजबूरी ने मुझे अपनी दूसरी आंख खोलने का मौका दिया था। लेकिन मेरे साथियों को ऐसी कोई मजबूरी पेश नहीं आई थी। इसलिए उन्हें अपने अभाव का कोई अहसास नहीं था। लिखने या बोलने में संस्कृत का कोई अहसास नहीं था। लिखने या बोलने में संस्कृत का कोई आसान-सा शब्द मुझसे इस्तेमाल हो जाता, तो वे नाक मुंह चिढ़ाने लगते, और उसका मज़ाक़ उड़ाते। उन्हें बिल्कुल यह अहसास नहीं था कि उन्होंने अपनी एक आंख बंद की हुई थी। उन पर मुझे गुस्सा भी आता, और तरस भी।

हिंदी और उर्दू शैलियां

अब हिंदी और उर्दू शैलियों में मुझे इकहरेपन और अधूरेपन का दोष नज़र आता था। जहां हिंदी वाले अंधाधुंध संस्कृत शब्दों का प्रयोग करते हुए कच्ची और कंकरों भरी खिचड़ी पकाते थे : जिसे ग्रियर्सन ने 'बास्टर्ड मिक्सचर ऑफ़ संस्कृत एंड बर्नेकुलर' कहा है : वहां उर्दू वाले अपना ज़ोर लताफत और मुहावरेबाज़ी पर ज़ाया कर देते थे, जैसे उनकी नज़र में 'क्या कहना है' से अहमियत ज़्यादा 'कैसे कहना है' की हो। हिंदी वाले इस धोखे का शिकार थे कि वे साहित्य को मुस्लिम सामंतवादी संस्कारों से मुक्त करा रहे हैं। और उर्दू वाले इस वहम के मरीज़ थे कि जो कुछ भी भारतीय है, वह घटिया है, और जो कुछ फ़ारसी या अरबी द्वारा आया है, उसी में साहित्यिक महानता है।

हिंदी वालों के इस आरोप में मुझे कुछ सच्चाई प्रतीत होती थी कि

उर्दू साहित्य पतनोन्मुख सामंतवादी और दरबारी संस्कारों के नीचे दबा हुआ था और जनसाधारण के जीवन से उनका संबंध टूट चुका था। उनका दावा था कि वे इस संबंध को फिर से कायम कर रहे थे।

इरादा बड़ा नेक था, लेकिन उसे पूरा करने का जो तरीका अपनाया गया था, वह बहुत अजीब था। फ़ारसी की जगह संस्कृत के शब्द प्रयोग करके क्या वे भाषा या साहित्य को जनता के निकट ला रहे थे, या उसे और भी पराई और कठिन बना रहे थे? फिर अपने समय में संस्कृत भी तो सामंतवादी और दरबारी संस्कारों से लदी हुई भाषा थी। आम लोगों में उसे बोलने की योग्यता नहीं थी, यहां तक कि उन्हें उसे बोलने की इज़ाजत भी नहीं थी। मनु महाराज के कथानुसार तो रानियों-महारानियों को भी संस्कृत बोलने की इज़ाजत नहीं थी। कालिदास, भवभूति आदि के नाटक पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। इसलिए तो महात्मा बुद्ध ने जनता के निकट होने के लिए संस्कृत के बजाय पाली और प्राकृत को अपनाया था। सो, आज के ज़माने में भाषा को जनता के निकट लाने के लिए क्यों संस्कृत की इतनी ज़रूरत पेश आ गई है?

वैसे, उर्दूभाषा की सारी पृष्ठभूमि नवाबी नहीं थी। बादशाहों की फ़ौजें हिंदुस्तान भर में चक्कर लगाती थीं। उन फ़ौजों के लोग भानुमती का कुनबा होते थे-कोई पठान, कोई राजपूत, कोई तुर्क, कोई हब्शी। मेरठ-दिल्ली के आसपास की बोली में, जिसे खड़ी बोली कहा जाता था, वे लोग अपनी मूल भाषाओं के शब्द इस्तेमाल करके अपना काम चलाते थे। उर्दू का जन्म इसी प्रकार हुआ तो कहा जाता है।

यह लश्करी बोली, जिसे हिंदवी भी कहते थे, काफ़ी समय तक सभ्य समाज में प्रवेश नहीं पा सकी थी। ब्रज और अवधी ही, जिन्हें आज उपभाषाओं का स्थान दे दिया है, उस समय की उन्नत साहित्यिक भाषाएं थीं। अधिकांशतः उन्हीं में काव्य रचनाएं होती थीं। कवि हिंदू भी थे और मुसलमान भी। मलिक मुहम्मद जायसी ने *पद्मावत* की रचना की। उनसे प्रेरणा लेकर तुलसीदास ने *रामचरितमानस* लिखना शुरू किया। अमीर खुसरो, रहीम, सूरदास, मीराबाई और अन्य कितने ही महान कवि इन

भाषाओं में लिखते रहे। यही इस समय का हिंदी साहित्य था- वास्तविक अर्थों में जनवादी साहित्य।

लेकिन शाही हल्कों में उर्दू को धीरे-धीरे इज़्जत मिलने लगी थी। अपनी पहले की मातृभाषाओं के साथ रिश्ता कायम रखना नवाबों-बादशाहों के लिए भी मुश्किल होता जा रहा था। उन्हें भी तो हिंदुस्तान में रहते हुए पुश्तें बीत गयी थीं, सो कहां तक तुर्की-फ़ारसी को उठाये फिरते? जब अच्छे कवियों ने वही आनंद 'खड़ी बोली' में पैदा करके दिखाया, तो उच्च वर्ग की मानसिक भूख पूरी हो गई। उच्च वर्ग के सरपरस्ती हासिल होते ही खड़ी बोली के लिए उन्नति और विकास के ऐसे नये रास्ते खुल गये, जिनकी कभी कल्पना भी नहीं की गई थी। देखते-देखते फ़ारसी लिपि में लिखी जाने वाली खड़ी बोली अमूल्य साहित्य से मालामाल हो गई।

शहरों में धीरे-धीरे इस बोली का आम रिवाज़ हो गया। ब्रज, अवधी आदि भाषाएं घरेलू और देहाती जीवन से जोड़ दी गईं। और जब सामंतवाद के पतन का समय आया तो विलासमय और रूपसारवादी रुचियां उर्दू शायरी का 'सिंगार' बनने लगीं। लेकिन इस दौर में भी सौदा, मीर, आतिश, नज़ीर, ताबां और दूसरे उच्च कोटि के कवियों ने इस घटिया प्रवृत्ति की ओर से मुंह मोड़कर साहित्य में उत्तम उदार, मानवतावादी मान मर्यादाएं कायम रखीं। सच तो यह है कि इन महान कवियों ने राजनैतिक पतन के दौर को साहित्यिक उत्थान का दौर बना दिया। उनकी कविता जनसाधारण को हमेशा प्रिय रही है और रहेगी।

ग़ालिब के पत्र, साहित्य और इतिहास का अमूल्य खज़ाना हैं। उन्हें पढ़कर मुझे पता चला कि उर्दू के सर्वश्रेष्ठ कवि मिर्ज़ा ग़ालिब को सामंतवादी व्यवस्था और साहित्य के बनावटी मानमूल्यों से कितनी नफ़रत थी। बरतानवी पूंजीवादी सभ्यता, और राजा रायमोहन राय जैसे प्रगतिशील विचारकों के संपर्क में आने से उनका साहित्यिक दृष्टिकोण बहुत बदल गया था। वे कविता के गहन सामाजिक कर्तव्य के प्रति सचेत हुए थे और नई पीढ़ी के कवियों के लिए नये रास्ते बना गये थे।

कुछ इसी प्रकार की भावना ने ही मिर्ज़ा ग़ालिब के समकालीन

भारतेंदु हरिश्चंद्र जैसे वर्तमान हिंदी साहित्य के कर्णधारों को भी प्रेरणा दी होगी। उन्होंने उर्दू से खड़ी बोली और ब्रज-अवधी से नागरी लिपि लेकर दो लोकप्रिय परंपराओं का सुमेल कराना चाहा होगा।

लेकिन अफ़सोस, इन प्रगतिशील प्रवृत्तियों को विकसित होने का मौक़ा नहीं मिला। उनके सिर उठाने की देर थी कि बरतानवी साम्राज्य ने उन्हें कुचलना शुरू कर दिया।

लंदन में मेरे एक बहुत विद्वान बंगाली दोस्त थे। वे कभी पिस्तौलबाज़ इंक्लाबी भी रह चुके थे। एक दिन उन्होंने बहुत महत्वपूर्ण बात बताई।

उन्होंने बताया कि ईस्ट कंपनी का असर-रसूख़ शुरू में हिंदुस्तान के तटवर्ती इलाक़ों में पैर जमाने के बाद ही मध्यवर्ती इलाक़ों में फैला था। शुरू-शुरू में अंग्रेज़ों को कोई अनुमान नहीं था कि एक दिन वे हिंदुस्तान के मालिक बन जायेंगे। उनकी नीति व्यापार और छीना-झपटी तक ही सीमित थी। इस दौर में वे हिंदुस्तानियों के साथ बराबरी का सलूक करते थे। हिंदुस्तान के 'ऐश्वर्य, सभ्यता और संस्कृति से वे बहुत प्रभावित हुए थे। देश की विभिन्न भाषाओं को वे बड़े शौक से सीखते थे, और अपना रहन-सहन भी हिंदुस्तानी नवाबों जैसा बनाने की कोशिश करते थे। इस प्रारंभिक मेल-मिलाप और आदान-प्रदान का नतीजा तटवर्ती इलाक़ों-बंगाल, आंध्रप्रदेश, तमिलनाडू, मालाबार, महाराष्ट्र, गुजरात आदि के लिए बहुत अच्छा निकला। नवीन यूरोपीय सभ्यता और ज्ञान-विज्ञान का प्रभाव ग्रहण करके उनकी अपनी राष्ट्रीय भावना का बहुत विकास हुआ। उनकी भाषाएं, धार्मिक भेदभाव से दूषित हुए बिना अलग-अलग प्रांतीय भाषाओं के रूप में परवान हो गईं।'

बर्तानवी सरकार की भूमिका

लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे या चौथे दशक तक सारा हिंदुस्तान अंग्रेज़ों के कब्ज़े में आ गया। अंग्रेज़ों ने उस पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। अब, खासकर 1857 के ग़दर के बाद, उनके रवैये में इंक्लाबी

तबदीलियां आईं। हिंदुस्तानियों से बराबरी का सलूक करना वे अपनी शान के ख़िलाफ़ समझने लगे। तार, समुद्री जहाज़ों, और रेल के आविष्कारों ने उन्हें दूर होते हुए भी अपने देश, इंग्लैंड के साथ जुड़े रहने की सहूलियत दी। अपनी साम्राज्यवादी पकड़ मज़बूत रखने के लिए उन्होंने ऐसी देशव्यापी अफ़सरशाही का आविष्कार किया, जो जनता की पहुंच से दूर और निर्लिप्त रहकर कमाल की अक्लमंदी और सलीके से शासन-चक्कर चलाये, बाहर से हिंदुस्तानियों का हितैषी और पालक होने का दिखावा करे, लेकिन अंदर से साम्राज्यवादी हितों की रक्षा करे। इस प्रकार भारतीय भाषाएं और संस्कृतियां नगण्य बन गईं, उन सब पर राज्य भाषा, अंग्रेज़ी की छाया पड़ने लगी। उनके बारे में जो भी फ़ैसले किये जाते, वे बरतानवी हितों को सामने रख कर बड़ी सूक्ष्म दृष्टि, खोज और अनुभव के आधार पर किये जाते।

इस नई परिस्थिति का सबसे गहरा और घातक असर उन प्रांतों पर पड़ा जो अंग्रेज़ों के कब्ज़े में बाद में आए। वे मध्यवर्ती और उत्तरी इलाक़े थे- उत्तर प्रदेश, पंजाब आदि। इन इलाकों में यूरोपीय प्रभाव अभी बिल्कुल नये थे।

बंगालियों द्वारा बंगाली को अपनी साझी प्रांतीय भाषा मानने में अंग्रेज़ों को कोई संकोच नहीं हुआ था। लेकिन जब पंजाब की भाषा का सवाल आया तो उन्होंने बड़ी दूरदर्शिता से काम लेकर, सिख-राज्य की प्राप्तियों को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए, पंजाबी के बजाय उर्दू को पंजाब की भाषा माना, क्योंकि पंजाब में मुसलमान बहुसंख्या में थे। इस प्रकार भाषा की समस्या को धर्म से जोड़कर उन्होंने पहले दिन से ही पंजाब के सामाजिक जीवन में सांप्रदायिकता के ज़हरीले बीज बो दिये। पंजाबियों की साझी क़ौमियत को नये युग में आंखें खोलने का मौक़ा ही न मिला।

लगभग यही तरीक़ा उन्होंने उत्तर प्रदेश और केंद्रीय भारत में इस्तेमाल किया। भाषा और संस्कृति की समस्याओं को धर्म के साथ जोड़कर उन इलाकों में भी उसी प्रकार के गुल खिलाये। ग़दर के बाद, बीस वर्ष तक मुसलमानों को कुचला और हिंदुओं को ऊपर उठाया।

हिंदुओं के सामने यह प्रकट किया कि उनकी अधोगति का मूल कारण अंग्रेज़ नहीं बल्कि म्लेच्छ मुसलमान हैं जिन्होंने भारत की महान और संसार की सबसे प्राचीन सभ्यता और संस्कृति को भ्रष्ट किया था। फ़ारसी लिपि और फ़ारसी शब्द वास्तव में हिंदू समाज की गिरावट और गुलामी के चिह्न थे। हिंदुओं का अपना सच्चा विरसा था- आर्यकाल, अर्थात् देव भाषा संस्कृत, और देव लिपि नागरी, जिन में कि वेदों और शास्त्रों की रचना हुई थी। संस्कृत ही यूरोप की भाषाओं का भी मूल स्रोत थी। सो, अगर हिंदू जाति अपने गौरवमय अतीत को पहचाने तो भारतवर्ष फिर से एक महान देश बन सकता है। हिंदुओं को अपना चरित्र उस ज़माने के आदर्शों के अनुसार ढालने की ज़रूरत है, जब भारत मुस्लिम प्रभावों से मुक्त था। इस काम में अंग्रेज़ों ने हिंदुओं को अपनी पूरी सहायता देने का वचन दिया।

फिर सन् 1870 के बाद, जब हिंदुओं को प्रोत्साहन देने का सौदा महंगा पड़ता दिखाई दिया तो बरतानवी साम्राज्य ने बहुसंख्यक हिंदुओं के उलट अल्पसंख्यक मुसलमानों के सहायक और रक्षक होने का रोल अदा करना शुरू कर दिया। उन्होंने जिस प्रकार हिंदुओं की कल्पना को वैदिककाल की ओर दौड़ाया था, वैसे ही मुसलमानों के विचारों का रुख करबला और काबा की ओर मोड़ना शुरू किया। उन्होंने बताया कि मुसलमानों के लिए हिंदुस्तान को अपनी जन्मभूमि के रूप में नहीं, बल्कि अपने खोये हुए राज्य के रूप में देखना अधिक स्वाभाविक है। उनका वास्तविक भावनात्मक संबंध उस धरती से होना चाहिए, जहां उनका दीने-इस्लाम अस्तित्व में आया था। उन्होंने हिंदुस्तान को अपनी अलौकिक महानता और बाहु-शक्ति से जीता था। सो, यहां वे गुलाम बन कर नहीं रह सकते; खासकर उन क़ाफ़िरो के गुलाम बनकर, जो कल तक उनके अपने गुलाम थे। फ़ारसी और अरबी लिपि और शब्दावली इस्लामी महानता और गौरव की निशानी हैं। मुसलमान मरते दम तक उनकी रक्षा करते रहेंगे।

इन परिस्थितियों में 'हिंदू क़ौम' और 'मुस्लिम क़ौम' के नामुराद

सिद्धांत का पैदा होना कोई अनोखी बात नहीं थी। दो कौमों के सिद्धांत को जन्म देने का सेहरा मिस्टर जिन्ना के सिर पर बांधना अन्याय है। इसका आविष्कार सबसे पहले बंकिम बाबू के ज़माने में बंगाल के सुशिक्षित हिंदू मध्यवर्ग में हुआ था। 'हिंदू कौम' और 'हिंदू राष्ट्र' के निर्माण की घोषणाएं सबसे पहले इसी वर्ग के लोगों ने शुरू की थीं।

सच तो यह है कि बंगाल और महाराष्ट्र के आतंकवादी क्रांतिकारी भी इस संकुचित और सांप्रदायिक मनोवृत्ति से मुक्त नहीं थे। बंगाल के क्रांतिकारियों की सबसे बड़ी गुप्त संस्था, 'अनुशीलन समिति' के विधान में साफ़ लिखा गया था कि मुसलमान एक घटिया कौम है। 'समिति का आदर्श हिंदू जाति का राज्य स्थापित करना है। क्रांतिकारियों को मुस्लिम म्लेच्छों से कोई संबंध नहीं रखना चाहिए। यद्यपि उनके साथ बुरा व्यवहार नहीं करना चाहिए, लेकिन फिर भी उनसे दूर ही रहना चाहिए।' वीर सावरकर और भाई परमानंद जैसे व्यक्ति कट्टर देश भक्त होने के साथ कट्टर सांप्रदायिकतावादी भी थे। इस में उन्हें कोई अंतर्विरोध दिखाई नहीं देता था। हिंदू महासभाई आंदोलन बहुत हद तक इसी प्रकार की विचारधारा का परिणाम है।

मुझे अपने बंगाली दोस्त की इन बातों में काफी सच्चाई दिखाई दी, और अपने दिमाग की कई गांठें खुलती हुई प्रतीत हुईं। अब मुझे अहसास हुआ कि मैं टैगोर और गांधी जी के दृष्टिकोणों को समझने में क्यों असमर्थ रहा था। वे हिंदुस्तान के तटवर्ती इलाकों में जन्मे-पले थे। उनके दिल में अपनी मातृभाषा और संस्कृति संबंधी संस्कार स्वाभाविक ढंग से प्रफुल्लित हुए थे, और सच्ची राष्ट्रियता की ओर विकास कर रहे थे। लेकिन मैं शुरू से ही सांप्रदायिक संस्कारों में पला था। पंजाबियत और हिंदुस्तानियत, दोनों के बारे में मेरे विचार अधूरे और विकृत थे। मातृभाषा और राष्ट्रभाषा संबंधी उन महापुरुषों का दृष्टिकोण यथार्थवादी और सही था। लेकिन मैं अर्थ का अनर्थ कर रहा था। किसी ने सच कहा है कि 'जिसका दिमाग़ गुलाम हो जाये, उससे बड़ा दुनिया में और कोई गुलाम नहीं है।'

पंजाब की स्थिति और मेरे संस्कार

मैं अपने अंदर गहराई से देखने के लिए मजबूर हुआ। मैं सोचने लगा कि पंजाबी होते हुए भी मैं हिंदी में क्यों लिखता हूँ। इसका कारण मेरे सामने आया। मेरे पिता जी आर्यसमाजी थे। उन्होंने खुद हिंदी कभी नहीं सीखी थी, न ही वे संस्कृत जानते थे। उनकी धार्मिक पत्रिका, 'आर्य गजट' भी हर हफ्ते उर्दू में छप कर आती थी। हिंदू-हितों के रक्षक 'मिलाप' और 'प्रताप' समाचार-पत्र भी उर्दू में ही अपनी नफरत उगलते थे।

मेरे पिताजी की उर्दू की लिखावट कातिबों की लिखावट को मात करती थी। फ़ारसी भी वे ख़ूब जानते थे और उसे दिल से प्यार करते थे। 'गुलिस्तां' और 'बोस्तां' के हवाले दे कर हमें उपदेश देने का उन्हें खास शौक था। फिर भी, अपनी संतान को उर्दू और फ़ारसी की शिक्षा देना उन्हें अच्छा नहीं लगा। मुझे पहले-पहल स्कूल में दाख़िल कराने के बजाए उन्होंने एक गुरुकुल में डाला जहां पाणिनि की अष्टाध्यायी के सूत्र उसी प्रकार रटाये जाते थे जैसे मस्जिदों में मौलवी बच्चों को कुरान शरीफ़ की आयतें रटाते थे।

मेरे पिताजी के चरित्र में अजीब किस्म के अंतर्विरोध थे। हमारे मुहल्ले के हिंदुओं-सिक्खों के चार-पाँच घरों को छोड़कर बाकी सब घर मुसलमानों के घर थे। अपने पड़ोसी मुसलमानों के साथ पिताजी का बहुत गहरा और सच्चा प्यार था। लेकिन घर की चारदीवारी के अंदर वे हमेशा मुसलमानों की निंदा करते। उनके लिबास, खुराक, रहन-सहन, रीति-रिवाज़-सब की कटु आलोचना करते। उन्हें इस बात का कोई अनुमान नहीं था कि हमारे कोमल दिलों में इस किस्म की आलोचना का कितना गहरा असर पड़ सकता है, और हमारी अपनी दोस्तियाँ किस हद तक ख़राब हो सकती हैं। स्कूल और कॉलेज के जीवन में मैं जब भी मुसलमान लड़कों से दोस्ती करता, यह संस्कार मेरे और उनके बीच में हमेशा एक अदृश्य-सी दीवार बन जाते, जिसे हज़ार कोशिशें करने पर भी मैं तोड़ न सकता। मेरी दोस्तियों को ग्रहण-सा लग जाता। उर्दू को दिल से प्यार करने पर भी, मेरे पिता उसे घटिया भाषा कहते। हिंदी-संस्कृत न जानते

हुए भी वे उन भाषाओं की प्रशंसा में झूमने लगते। इससे उन्हें धार्मिक तृप्ति मिलती।

इस पृष्ठभूमि के सामने मैं कैसे कह सकता था कि मेरा हिंदी में लिखना एक स्वाभाविक कर्म था? मैं समझता हूँ कि यदि कृशनचंदर के पिता के दिल में भी वहीं अंतर्विरोध होता, तो वे भी उर्दू के बजाय हिंदी के लेखक बनते। पता नहीं कि राजेंद्र सिंह बेदी के पिता के अंतर्विरोध कैसे थे कि सिक्ख होते हुए भी पंजाबी लेखक न बन सके। अजीब गोरखधंधा था यह मेरी पीढ़ी के बुद्धिजीवियों के लिए!

मैंने देखा कि मानसिक तौर पर सांप्रदायिकता से स्वतंत्र होने पर भी मेरे लिये उससे छुटकारा पाना मुश्किल था, क्योंकि उसकी जड़ें मेरे अवचेतन मन में फैली हुई थीं। उर्दू को घटिया, पराई और अपवित्र भाषा समझने के संस्कार होश संभालने से पहले ही मेरे मन में बो दिये गये थे।

सो, हैरानी की क्या बात है, अगर मेरे वी.सी.सी के साथियों के मनो में भी हिंदी के विरुद्ध उतने ही गहरे संस्कार भरे हुए थे! वे हिंदी को इसलिए नफरत नहीं करते थे कि वह बुरी थी, बल्कि इसलिए कि उसमें से उन्हें हिंदूपन की बू आती थी। इसके बावजूद वे खुद को सांप्रदायिकता से बिल्कुल मुक्त समझते थे।

शुक्र है ईश्वर का कि कम-से-कम मेरे अपने विचार गुलामी से छुटकारा पा गए थे। अब मैं न हिंदी-उर्दू को कभी दो भाषाएं मानने के लिए तैयार था, न ही राष्ट्रभाषा के मुकाबले में अपनी मातृभाषा को घटिया समझने के लिए ही तैयार था।

इस बात का सबूत मुझे कदम-कदम पर मिलने लगा कि उर्दू-हिंदी मेरे लिए पराई भाषा है। मैं अपने लहजे में से 'पंजाबियत' को निकालने की काफ़ी कोशिश करता था, लेकिन फिर भी यू.पी. वालों के सामने बोलते हुए मेरी ज़बान को जैसे ताला लग जाता था। यही हालत मैं उर्दू जानने वाले अपने दूसरे पंजाबी साथियों की देखता था। मैं तो ख़ैर उर्दू के क्षेत्र में फिर भी नया था, लेकिन मेरे दूसरे साथियों की तो उम्रें गुज़र गई थीं। लिखते या माईक पर बोलते समय वे दिल्ली-लखनऊ के अच्छे

से अच्छे विद्वानों और वक्ताओं को मात कर देते थे, लेकिन जब कभी उनके साथ मिलकर बैठते तो बहुत संभल-संभल कर मुंह खोलते। अपनी शर्म को छिपाने के वे कई तरीके जानते थे, जिन्हें यू.पी. वाले तो न भांप सकते, लेकिन मैं घर का भेदी, झट भांप जाता। मैं यह भी देखता कि उन्होंने मुझे भांपते हुए देख लिया है। लेकिन इस असलियत को हम एक दूसरे के सामने कबूल नहीं करते थे। मेरे साथियों को यू.पी. वालों के सामने पंजाबी भाषा के उच्चारण और संस्कृति का मज़ाक उड़ाने में भी कोई शर्म महसूस नहीं होती थी, लेकिन अब मेरे अंदर का गर्व जाग उठा था। आखिर इस हीनभाव की क्या ज़रूरत है? मैं सोचता। हम पंजाबी आपस में तभी पूरी तरह खुलते, जब कोई भी अंग्रेज़ या यू.पी. वाला हमारे बीच में न होता। तब हमारा रंग और ही होता। ऐसे मौकों पर यू. पी. वालों या अंग्रेज़ का मज़ाक उड़ाकर हमें खास तौर पर मज़ा आता, जैसे कि मालिक की पीठ के पीछे नौकर उसकी नक़लें उतारने लग जाते हैं। हमारे मन का बोझ उतर ही जाता।

माक्सवादी विचारधारा

लंदन में जो एक और प्रभाव मुझ पर पड़ा, उसका उल्लेख करना भी ज़रूरी है। वह था माक्सवादी विचारधारा का प्रभाव। जब सिर पर बम बरस रहे हों तो आदमी खुद को राजनीति से दूर नहीं रख सकता। वह जानना चाहता है कि यह बम क्यों बरस रहे हैं, लड़ाइयां क्यों होती हैं और मानवीय मूल्यों का जनाज़ा क्यों निकलता है। यद्यपि मैंने माक्स या लेनिन की कोई पुस्तक नहीं पढ़ी थी, फिर भी जज़्बाती तौर पर मैं माक्सवादी सिद्धांत के बहुत निकट आ गया था।

युद्ध समाप्त होने से लगभग एक साल पहले मैं हिंदुस्तान लौट आया, और बंबई में फ़िल्मों में काम करने लगा। देश की हालत बड़ी हंगामी थी : सबसे बड़ी तब्दीली यह देखने में आ रही थी कि गांधी जी का हिंदू-मुस्लिम एकता का सपना टूटने पर आया हुआ था। मुसलमान बड़ी तेज़ी से कांग्रेस छोड़कर लीग के झंडे के नीचे जमा हो

रहे थे। अब खुलेआम हिंदी हिंदुओं की और उर्दू मुसलमानों की भाषा बनती जा रही थी।

कम्युनिस्ट पार्टी, कांग्रेस और लीग दोनों को मिलाकर अंग्रेजों से टक्कर लेने के लिए ललकार रही थी। इस बात का जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ रहा था, क्योंकि आज़ादी की तड़प हर किसी के दिल में बहुत तीखी थी। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि आत्मनिर्णय के सिद्धांत का दुरुपयोग नहीं हो रहा था। कम्युनिस्ट पार्टी और मुस्लिम लीग के दृष्टिकोणों में ज़मीन-आसमान का फ़र्क था, लेकिन पार्टी के, मेरे जैसे, राजनैतिक तौर पर अनपढ़ और अपरिपक्व कर्मचारी जब इंक़लाबी जोश में आकर अपने विचारों का प्रचार करते तो यह फ़र्क धुंधला पड़ जाता। ऐसे लगता, जैसे कम्युनिस्ट पार्टी कांग्रेस और लीग दोनों को एक ही गज़ से नाप रही हो। पार्टी का नारा था : 'आज़ाद हिंदुस्तान में आज़ाद पाकिस्तान।' लेकिन कांग्रेस के हिमायतियों को ऐसे लगता, जैसे कम्युनिस्ट भी लीग की तरह देश के बंटवारे का समर्थन कर रहे हैं। ख़्वाज़ा अहमद अब्बास जैसे बुद्धिमान व्यक्ति इस अस्पष्टता के ख़तरों से परिचित थे और इस बारे में कामरेडों की सख़्त आलोचना करते थे। लेकिन ज़ब्बात की बाढ़ में मैं इस बारीकियों को नज़रअंदाज़ कर देता था। मैं सोचता कि पार्टी का सारा ज़ोर जनता की एकता, और साम्राज्यवाद के खिलाफ़ साझा मोर्चा बनाने पर लग रहा है। जब इरादा नेक है तो उसका नतीजा बुरा कैसे हो सकता है?

हाँ, लेकिन जब मैं 'प्रगतिशील लेखक संघ' की बैठकों में जाता तो मेरा दिल बैठ सा जाता था। मैं देखता कि वहाँ भी हिंदी और उर्दू के सवाल पर लेखक दो हिस्सों में बंट रहे थे। मैं सोचता कि मार्क्सवादियों का काम है, इस नक़ली भेद की दीवार को तोड़ना, न कि उसे परवान करना।

आख़िर, जो किस्मत को मंज़ूर था, वही होकर रहा। धर्म के नाम पर देश का भी बंटवारा हुआ और ज़बान का भी। पंजाब और उत्तर प्रदेश, दोनों जगह, जहाँ बरतानवी साम्राज्य साझी भाषा और संस्कृति के विकास

को रोकने में सबसे ज़्यादा सफल हुआ था, हैवानियत के सबसे ज़्यादा घृणित करिश्मे देखने में आये। बंटवारा बंगालियों का भी हुआ था, वे आपस में लड़े भी थे, अल्पसंख्यक लोगों पर वहां भी कम जुल्म नहीं हुआ था, लेकिन साझी भाषा और संस्कृति ने आंख की शर्म किसी हद तक कायम रहने दी थी। वे बिल्कुल ही भूल नहीं गये थे कि वे मनुष्य हैं, हैवान नहीं।

देश के बंटवारे ने मुझे महसूस कराया कि पराई शह पर मूछें मुंडवाने के शौक में हम पंजाबियों ने ख्वामख्वाह अपना घर बरबाद कर लिया है। हमने अपने सदियों से चले आ रहे रिश्ते-नाते तोड़ डाले, और एक दूसरे के लिए पराये बन गये। मेरा हिंदी-उर्दू को अलविदा कह कर अपनी मातृभाषा की शरण में आने का अंतिम कारण यही अहसास था। मुझे पता था कि हिंदी और उर्दू दोनों क्षेत्रों में पहली कतार के लेखक पंजाबी थे- कृशनचंदर, फ़ैज़ अहमद 'फ़ैज़', यशपाल, मंटो। यह सभी प्रसिद्धि की चोटी पर पहुंचे हुए थे। लेकिन ऐसी प्रसिद्धि की अब मेरी नज़र में कोई कीमत नहीं रह गई थी।

आज की स्थिति

आज बीस वर्ष हो गये हैं इस बात को। मुझे अपने फ़ैसले पर तनिक भी अफ़सोस नहीं हुआ है, बल्कि मैंने इससे सच्ची रूहानी आज़ादी का स्वाद चखा है। पूरी आज़ादी से सोचने, लिखने और पढ़ने का ढंग सीखा है। अपने पंजाबी लोगों को 'यार और इज़्ज़त की नज़र से देखने लगा हूं, इसलिए सारे हिंदुस्तान के लोगों को जानने और उनके साथ प्यार बंटाने का चाव दिल में जाग उठा है। हिंदी में सिर्फ़ कहानियां लिखकर खुश था, अब पंजाबी में कविता, नाटक, उपन्यास और अन्य कई क्षेत्रों में हाथ आजमाने लगा हूं, कभी गुजराती-मराठी में, कभी हिंदी संस्कृत में, और कभी उर्दू-फ़ारसी में। यहां तक कि अंग्रेज़ी से लेने में भी संकोच नहीं होता। ईश्वर ने चाहा तो कभी तमिल और मलयालम में भी लिखने लगूंगा।'

इस व्यक्तिगत अनुभव ने ही नहीं, बाहरी घटनाओं ने भी मेरे

फ़ैसले की पुष्टि की। इन बीस वर्षों में सांप्रदायिकता विरोध के बावजूद, पंजाबी भाषा हिंदुस्तान की दूसरी भाषाओं की तरह, अपना अधिकार प्राप्त कर पाई है। और पाकिस्तान से आने वाली ख़बरें भी इसी प्रकार की अच्छी संभावना का संदेश ला रही हैं।

उर्दू पाकिस्तान की किसी भी क़ौम की मातृभाषा नहीं है। उर्दू के हिमायती बनने से पाकिस्तानी पंजाबियों को आर्थिक लाभ बेशक हुआ हो, लेकिन रूहानी नुक़सान बहुत बड़ा झेलना पड़ा है। न सिर्फ़ उनके कलात्मक और सांस्कृतिक विकास में रुकावट पड़ी है, बल्कि अपने राष्ट्रीय भाईचारे में भी वे ईर्ष्या और द्वेष के पात्र बने हैं। यह खुशी की बात है कि उर्दू सारे पाकिस्तान की राष्ट्रभाषा बने। लेकिन उसकी असली टकसाल दिल्ली-लखनऊ ही है, और वही रहेगी। इस असलियत को दुनिया की कोई ताक़त नहीं बदल सकती। और न ही पाकिस्तान में उर्दू-पंजाबी को हमेशा के लिए उसे अपने घर में बेघर कर सकती है।

भाषा को धर्म के साथ जोड़ने की नापाक साम्राज्यवादी साजिश को पाकिस्तान में बंगालियों ने और हिंदुस्तान में तमिलनाडुियों ने करारी चोट लगाई है। बंगाली मुसलमानों ने उर्दू को स्वीकार करने से इन्कार करके उसके इस्लामी भाषा होने का दावा हमेशा के लिए रद्द कर दिया है। इसी प्रकार तमिलनाडु के हिंदुओं ने हिंदी को सब हिंदुओं की भाषा न मान कर इस दकियानूसी सिद्धांत का जनाज़ा निकाल दिया है। यह समय की जीत है। इस पर किसी लोकवादी देशभक्त को अफ़सोस नहीं करना चाहिए, बल्कि शुक्र मनाना चाहिए कि सांप्रदायिक ज़हर किसी हद तक हमारे अंदर से ख़ारिज हुआ है। इस ज़हर से पूरी तरह छुटकारा पाकर ही हम देश के सामने आई किसी गंभीर समस्या का हल खोज सकते हैं।

उपरोक्त घटनाओं ने मेरा यह विश्वास भी दृढ़ कर दिया है कि पाकिस्तान की क़ौमी ज़बान या हिंदुस्तान की राष्ट्रभाषा बनने से पहले उर्दू-हिंदी को, बंगाली या पंजाबी की तरह, किसी विशेष इलाके या जाति की मातृभाषा बनना पड़ेगा। आज नहीं तो कल, समय यह असलियत भी मनवा कर रहेगा।

खड़ी बोली

हिंदी-उर्दू का मूल आधार है, खड़ी बोली। ब्रज, अवधी, गढ़वाली, राजस्थानी, छत्तीसगढ़ी, भोजपुरी, मैथिली, मघई आदि अनेकों बोलियां इसकी उपभाषाएं बन कर रह गई हैं। इनमें कितनी वास्तव में उपभाषाएं हैं और कितनी पंजाबी की तरह स्वतंत्र भाषाएं, यह अभी नहीं कहा जा सकता। लेकिन खड़ी बोली की ऐतिहासिक परंपरा को दृष्टिगोचर करते हुए इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि मेरठ से लखनऊ तक का इलाका - हरियाणा, ब्रज और अवध - अवश्य ही इस भाषा का प्रामाणिक इलाका है। दिल्ली और लखनऊ ही इसके टकसाली केंद्र हैं। यहीं के लोगों की यह मातृभाषा है। यहीं के लोग इसे सबसे ज़्यादा अच्छे और सुंदर ढंग से बोलते हैं। इसकी रूपरेखा, उन्नति और विकास के बारे में यहीं के लोगों को फैसले करने का अधिकार है। जब तक इस प्रदेश के लोग अपना यह अधिकार और कर्तव्य नहीं पहचानेंगे, तब तक इस भाषा की दुर्दशा ही होती रहेगी। यह 'ग़रीब की जोरू सब की भाभी' ही बनी रहेगी।

जिस प्रकार की हिंदी में आकाशवाणी से समाचार प्रसारित किये जाते हैं, उसे सचमुच भाषा की दुर्दशा ही कहा जा सकता है। ऐसी शिखंडी भाषा जो खुद समाचार सुनाने वाले के मुंह से मुश्किल से निकलती है, कभी पूरे हिंदुस्तान के लोगों की ज़बान पर चढ़ पायेगी- ई खयाल अस्तो मुहाल अस्तो, जनून अस्त।

उत्तर प्रदेश वालों की मातृभाषा की फ़िल्में बंबई के स्टूडियों में बनती हैं, जहां के घटिया वातावरण में तंग आकर मुंशी प्रेमचंद छः महीने और अमृतलाल नागर कुछ वर्षों के अंदर ही भाग खड़े हुए थे : या फिर फ़िल्में बनती हैं मद्रास में, जहां के लोग हिंदी को सौ जूते मार कर एक गिनते हैं। ऐसी हालत में उन फ़िल्मों के घटिया होने पर हैरानी क्यों? मज़े की बात तो यह है कि जितना किसी हिंदी फ़िल्म का स्तर घटिया होगा, उतनी ही ज़्यादा उसके उत्तर प्रदेश में सफल होने की संभावना बढ़ेगी। बंगालियों ने शरत्चंद्र की कोई कृति फ़िल्माये बिना नहीं छोड़ी। लेकिन

प्रेमचंद की अधिकांश रचनायें अभी तक वैसी ही धरी पड़ी हैं। हिंदी तो सारे देश की भाषा है सो उत्तर प्रदेश वाले इस भाषा में फ़िल्में बनाने का कष्ट क्यों करें? उन महानुभावों का काम तो बस रह जाता है, आलोचना करना और यह बताना कि फ़िल्मों की भाषा किस हद तक 'हिंदी प्रधान' है और किस हद तक 'उर्दू प्रधान'। सम्मानहीनता का इससे ज़्यादा अच्छा उदाहरण किसी अश्लील चुटकुले में ही खोजा जा सकता है।

यही हाल तटवर्ती इलाकों की भाषाओं के मुक़ाबले में हिंदी साहित्य, लोक कलाओं और रंगमंच का है। यही दयनीय हालत उनकी खेती-बाड़ी और उद्योग-धंधों की है। हिंदुस्तान का सबसे उपजाऊ और प्रकृति की विभिन्न प्रकार की देन से भरपूर इलाका होते हुए भी उत्तर प्रदेश पिछड़ेपन और दीनता का उदाहरण बना हुआ है।

दिल्ली, मथुरा, आगरा, बनारस, लखनऊ कितने जादू भरे नाम हैं! उन्हें याद करते ही क्या-क्या चित्र आंखों के सामने साकार हो उठते हैं? लेकिन अब ऐसे लगता है, जैसे इस प्रदेश की भाषा की तरह इस प्रदेश के शहरों का भी अपना व्यक्तित्व समाप्त हो गया है। इनकी साझी हिंदू-मुस्लिम सभ्यता, संस्कृति, रहन-सहन आदि की कोमल विशेषताएं भी सांप्रदायिकता की भट्टी में जल कर राख हो गयी हैं। कहा जाता है न कि काज़ी जी दुबले क्यों हुए? शहर के फ़िक्र में! उत्तर प्रदेश वासियों ने राष्ट्र का प्रतीक बनने के आडंबर में पड़ कर अपनी सांस्कृतिक कद्रें-कीमतें ही गंवा दी हैं, और वे पिछड़ेपन के अंधे कुएं में गिर पड़े हैं। उन्होंने अपने रत्नागारों के सभी दरवाज़े ऐसे लुटेरों के लिए खोल रखे हैं, जिन्हें उनकी कोई कद्र-कीमत नहीं है। वे इस ओर ध्यान तो तब दें, जब उन्हें घरेलू नफ़रतों से फुर्सत मिले!

टैगोर ने ठीक ही कहा था कि हम सारे हिंदुस्तान को तभी पहचान सकते हैं, अगर पहले अपने प्रांत को पहचानें। सारी मनुष्यता को वही व्यक्ति प्यार कर सकता है जो पहले अपने घर के लोगों को, अपने पड़ोसियों को प्यार करे। जिसे खुद से प्यार नहीं, वह पराये लोगों को प्यार क्या करेगा?

हमारा देश अनेक क़ौमियतों का साझा परिवार है। वह तभी उन्नति कर सकता है, अगर हर एक क़ौम अपनी जगह संगठित और सचेत हो, और अपनी जगह भरपूर मेहनत और उद्यम करे। सब क़ौमों के समान अधिकार हों। कोई एक-दूसरी से ज़्यादाती न करे। जैसे हर क़ौम, वैसे ही हर व्यक्ति समान अधिकार रखने वाला हो- आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक। भारतीय एकता और उन्नति का संकल्प लोकवाद और समाजवाद के आधार पर ही किया जा सकता है, न कि बड़ी मछली छोटी मछली को हड़प करने का अधिकार दे कर।

जो लोग देश की एकता की खातिर 'एक देश, एक भाषा' की रट लगाये रहते हैं, उन्हें पाकिस्तान के तजुर्बे से सबक सीखना चाहिए। यह एकता का रास्ता नहीं, बल्कि पिछड़ेपन, लूट-खसोट और साम्राज्यवादी मोहताजी का रास्ता है। एकता प्राप्त करने के लिए पहले अनेकता का मोल आंकना होगा। कवि ने ठीक ही कहा है :

चमन में इख़लाते रंग ओ बू से बात बनती है

हमीं हम हैं तो क्या हम हैं, तुम्हीं तुम हो तो क्या तुम हो?

मध्य युगीन साहित्य

हिंदी लेखक के बजाय जब मैं पंजाबी लेखक बना तो मेरे विचार 'वैदिक काल' की ओर छलांगें लगाना छोड़कर उस युग की ओर लौटे, जिस में भारत की वर्तमान भाषाओं, लिपियों, क़ौमियतों और संस्कृतियों का जन्म हुआ था- अर्थात् वही बदनाम मध्य युग, जिसमें मुस्लिम-म्लेच्छ संस्कार हिंदू संस्कृति में सम्मिलित होने शुरू हुए थे। घर की शिक्षा और स्कूल कॉलेज में पाई शिक्षा के प्रभाव में मैं इस युग को अंधकारमय और अधोगति का ज़माना समझता आया था, और भक्ति-लहर के कवियों और संतों-सूफ़ियों को केवल निराशा फैलाने वाले देहाती कवि, बैरागी और छायावादी मानता था। लेकिन जब मैंने अपनी भाषा के प्राचीन साहित्य का अध्ययन किया तो पता लगा कि असलियत कुछ और ही थी।

इस्लाम का जन्म अरब में हुआ था, लेकिन हमारे देश पर अरबों

ने कभी राज नहीं किया। ग्यारहवीं सदी के आस-पास उन्होंने सिर्फ एक हमला सिंध पर किया था। और लगभग एक साल मुलतान तक का इलाका उनके कब्जे में रहा। फिर वे वापस चले गए। इस हमले का जिक्र इतिहासकार बड़ी इज्जत से करते हैं, क्योंकि इस छोटे से अरसे में ज्ञान-विज्ञान का जो आदान-प्रदान अरबों और भारतीयों के बीच हुआ, उससे सारे संसार को लाभ पहुंचा। अरब वाले हिंदुस्तान से गणित की दशमलव प्रणाली ले गये और फिर वह यूरोप में भी प्रचलित हुई। आज सारा संसार उनका प्रयोग कर रहा है। इसी तरह, वे पंचतंत्र की कहानियां, उपनिषद और पता नहीं अन्य क्या कुछ ले गये। अरबों की नज़र में भारत की सभ्यता-संस्कृति की कितनी कद्र थी यह बात तेरहवीं सदी के एक अरबी इतिहासकार, अबुल-कासिम सायद-बिन-अहमद के कथन से स्पष्ट हो जाती है। यह विद्वान मूर-शासन-काल में स्पेन में रहता था। वह लिखता है:

‘संसार के सभी प्राचीन देशों में हिंद ज्ञान और विज्ञान में सब से आगे है। न्याय और उत्तम राजनीति का वह प्रकाश केंद्र है।’

‘हिंद के लोग बड़े सुशील, बुद्धिमान और ऊंचे विचारों वाले हैं। उन्होंने मानव जाति के लाभ के लिए प्रत्येक क्षेत्र में उच्च स्तर कायम किये हैं। ईश्वर ने उन्हें सफ़ेद चमड़ी वाली कौमों के मुकाबले में ज़्यादा ऊंची अकल दी है।’

‘हिंद के लोग नम्र और सभ्य हैं। उन्होंने अंक विद्या, गणित विद्या और नक्षत्र विद्या में कमाल हासिल किया है। औषधि-शास्त्र और चिकित्सा शास्त्र के भी वे विशेषज्ञ हैं। वे एक ही ईश्वर में विश्वास रखते हैं।’

1 से 9 तक के अंक, शून्य के साथ, हमें हिंद से ही हासिल हुए हैं। गणित में इन अंकों का प्रयोग हिंद के लोगों की सूक्ष्म बुद्धि का सबूत है। शतरंज का खेल भी हिंद के लोगों की अद्भुत विचार-शक्ति की पैदावार है...

अद्वैतवाद की परंपरा

‘वे एक ही ईश्वर में विश्वास रखते हैं’ - इस वाक्य पर ध्यान देने की ज़रूरत है। इसका संकेत हमारे उपनिषद-दर्शन शास्त्र की सर्वोत्तम देन,

अद्वैतवाद की ओर है, जो कि मध्ययुगीन भक्ति-लहर का मूल स्रोत माना जाता है। संपूर्ण विश्व ब्रह्म का रूप है। वह सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, अजर, अमर, अनादि, अनंत, निराकार, सृष्टि को जन्म देने वाली शक्ति, जो निरंतर गति और निरंतर विकास प्रदान करती है, जो सृजन करती है, पालन करती है और संहार भी करती है। सत् चिद् और आनंद उसके गुण हैं। सभी जड़ और चेतन पदार्थ उसके गर्भ में से प्रसूत होते हैं, और उसी में विलीन हो जाते हैं। जीव की आत्मा का परमात्मा से बूंद और सागर वाला रिश्ता है या कहा जाये कि पंच भौतिक शरीर धारण करके जीव विरह की अवस्था में आ जाता है लेकिन इस अवस्था में भी अपने प्रियतम, अर्थात् ब्रह्म के साथ जुड़ कर अनंत सुख प्राप्त कर सकता है। सभी जीवों में ब्रह्म है। इसलिए किसी को अकारण कष्ट नहीं देना चाहिए। मनुष्यों को प्यार और उदारता भरा व्यवहार करना चाहिए। किसी भी विचारधारा या धर्म के साथ द्वेष नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह सभी ब्रह्म का ही रूप हैं।

डॉ. राधाकृष्ण के कथनानुसार इस दार्शनिकता का एक हानिकारक पक्ष भी था, जिसके कारण भारतीय संस्कृति अच्छाइयों के साथ बुराइयों को भी अपने आंचल में समेटती चली गयी (आखिर सब कुछ ब्रह्म का ही तो रूप था!) अत्यधिक उदारता के कारण अद्वैतवाद का क्रांतिकारी मूल-गुण खो गया। लेकिन फिर भी दर्शनशास्त्र में अद्वैतवाद का बहुत ऊंचा स्थान है। निःसंदेह यह अपने समय का सर्वोत्तम दर्शन था। इतिहास के प्रत्येक पड़ाव पर अद्वैतवाद ने किसी-न-किसी रूप में हमारे समाज का हाथ देकर गिरावटों से बचाया है। भगवत गीता, बुद्ध और महावीर की शिक्षा, शंकराचार्य, नानक, कबीर, तुकाराम, ज्ञानेश्वर और वर्तमान युग में विवेकानंद, टैगोर और महात्मा गांधी- सब की विचारधारा में उपनिषदों का चिंतन किसी-न-किसी रूप में मौजूद था। भारतवासियों ने हमेशा नये प्रभावों और नये लोगों को अंगीकार करके अपनी सभ्यता-संस्कृति के प्रवाह को अटूट रखा है। इस बात पर संसार को आश्चर्य होता है। मेरे ख़याल में इसका रहस्य ज़्यादातर उपनिषदों की

शिक्षा में ही छिपा हुआ है।

ईरान और अरब के सूफ़ीवाद के साथ अद्वैतवाद और वेदांत के प्राचीन काल से संबंध रहे हैं। इन्हीं संबंधों ने हमारे देश में इस्लामी और हिंदू विचारधाराओं के टकराव को एक सुमेल और संगम में बदल दिया, जो इतिहास की एक अद्भुत और अपूर्व घटना है। इस संगम में से ही सांस्कृतिक पुनर्जागृति की भांति भक्तिलहर की धारा विभिन्न दिशाओं में बहने लगी थी। अनेक सूफ़ी दरवेश हमेशा के लिए हिंदुस्तान में बस गये। सिंधियों की अरबी लिपि उन्हीं की देन है, जो उन्हें इतनी प्रिय है कि बंटवारे के बाद अपना सब कुछ लुटा कर आये हुए हिंदू सिंधी भी उसे छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं। शाह रसूल और शाह लतीफ़ को अब भी वह सीने से लगाये हुए हैं।

अरबों ने हिंदुस्तान पर शासन नहीं किया, लेकिन हमारे साथ उनके व्यापारिक और सांस्कृतिक संबंध हज़ारों साल पुराने हैं। अरब के लोग प्रायः समुद्री जहाज़ों द्वारा हिंदुस्तान के पश्चिमी तट पर आकर उतरते और फिर वहीं बस जाते। केरल के मोपला लोग इन्हीं अरब जहाज़रानों की संतान हैं। केरल की भाषा में 'मोपला' शब्द का अर्थ है, 'दूल्हा'। अरबवासी अपनी स्त्रियों को साथ लेकर नहीं आते थे। वे यहीं शादियां करते और यहीं के हो कर रह जाते थे। इसलिए उनका नाम मोपला पड़ गया। गुजरात, कोंकण, कन्नड़, केरल और लंका से लेकर मलाया और इंडोनेशिया तक अरबों ने शांतिमय ढंग से अपनी नौआबादियां कायम कीं।

जिन मुस्लिम क़ौमों ने हिंदुस्तान पर बाकायदा तौर से हमले किये और हुकूमतें कायम की, वे उत्तर-पश्चिम की ओर से हिंदूकश पर्वतश्रेणी के दर्रा के रास्ते आती थी। वे केंद्रीय एशिया और मध्य एशिया की क़ौमें थीं। सच पूछिये तो ये क़ौमें वास्तव में उसी आर्य जाति की संतान थीं, जो प्राचीन काल से भारत में आकर बस गई थीं। और अब हिंदू कहलाती थी।

आर्यों ने जिस प्रकार द्रविड़ों और मुंडों को भगा कर सारा उत्तरी

भारत अपने कब्जे में कर लिया, इससे उनके विशेष शांतिमय होने का सबूत नहीं मिलता। हारी हुई जातियों को शूद्र और दस्यु का दर्जा दे कर अपमानित करना सहनशीलता या उदारता की निशानी नहीं है। लेकिन यह प्राचीन समय की बातें हैं। इतना हम ज़रूर कह सकते हैं कि मध्य और केंद्रीय एशिया की जातियों को हमेशा से ही हिंदूकश के रास्ते से भारत पर हमले करने का चस्का रहा है। इसका कारण, यहां का ऐश्वर्य या सुखद जलवायु, कुछ भी।

सम्राट विक्रमादित्य (द्वितीय) और कनिष्क के बारे में अनुमान लगाया जाता है कि वे तुरुष्क (तुर्क) जाति के ही थे।

सम्राट अशोक के मन का बुद्ध-मत देश-देशांतर में फैल गया था। तब चीन और जापान की तरह, मध्य और केंद्रीय एशिया के सारे प्रदेश भी बुद्ध मत के अनुयायी हो गये थे। उन दिनों तुर्क, मुग़ल, अफ़ग़ान सभी बौद्ध होते थे। अशोककाल के कई खंडहर इन्हीं इलाकों में मिले हैं। चीनी यात्री ह्यून सांग के कथनानुसार समरकंद (बाबर की जन्मभूमि) मध्य एशिया में बौद्धों का प्रमुख केंद्र था। बौद्ध भिक्षु वहां से होकर चीन और भारत में आया-जाया करते थे।

समय का चक्कर चलता रहा। बौद्ध-मत भारत में पतनोन्मुख होकर अपना प्रभाव खो बैठा और हिंदू मत-मतांतर फिर से उभर आये। इसी प्रकार अफ़ग़ानिस्तान, कंधार, समरकंद आदि में भी बौद्धमत गिरावट के रास्ते पर चल पड़ा और अंत में इस्लाम ने उसका स्थान ले लिया।

नसली एकता

मतलब यह कि इस्लाम क़बूल करने से पहले भी हिंदुस्तान पर ख़ैबर के रास्ते से वही जातियां हमले करती थीं, जिन्होंने इस्लाम क़बूल करने के बाद हमले किये थे। उनका सिर्फ़ धर्म बदला था। नसली तौर पर वे वही थीं जो आर्यकाल से भारत में बसी हुई थी। एक ही खून था दोनों का। उनकी भाषाएं भी उसी प्रकार संस्कृत में से निकली थीं, जैसे कि उत्तरी भारत की भाषाएं। विचारधाराओं और संस्कृतियों का जिस प्रकार पहले

टकराव और संगम होता आया था, वैसे ही तब भी होता चला गया। विदेशियों को जिस प्रकार पहले भारत अपने अंदर समा लेता रहा था, तब भी समाता रहा। कोई अनहोनी बात नहीं हुई।

इतिहास के विद्यार्थियों के सामने ये बातें ज़रूर स्पष्ट होनी चाहिए। अंग्रेजों ने दो सौ वर्ष तक हिंदुस्तान पर राज्य किया। इस दौर को हम भारतीय इतिहास का 'ईसाई युग' नहीं कहते 'ब्रिटिश' युग कहते हैं। और यह ठीक भी है। राज्य कायम करने के प्रयत्न, फ्रांस, हालैंड और पुर्तगाल के लोगों ने भी किये और वे भी ईसाई थे। इसलिए 'ब्रिटिश' युग कहना ही ठीक है वरना इतिहास का चेहरा धुंधला पड़ जाएगा।

इसी प्रकार, भारतीय इतिहास को सिरे से 'हिंदूकाल' और 'मुस्लिमकाल' में बांट देना भी उसके चेहरे को धुंधला करता है, वहम और द्वेष के कीटाणुओं को जन्म देता है।

इतिहास केवल राजाओं-महाराजाओं की लड़ाईयों और प्रेमकथाओं का वर्णन नहीं होता। उसे समझने के लिए आर्थिक और सामाजिक असलियत की गहराई तक पहुंचने की ज़रूरत है। यद्यपि राजनैतिक दृष्टिकोण से भारतीय मध्यकाल भी, यूरोप के मध्यकाल की भांति, रक्तपात, बर्बरता और शासकों की निरंकुशता का समय रहा है, लेकिन कला-कौशल और साहित्य के दृष्टिकोण से वह एक निरंतर प्रगति और विकास का दौर रहा है।

संस्कृतियों का सम्मिश्रण और बहुमुखी विकास

हिंदू-मुस्लिम संस्कृतियों के सम्मिश्रण ने इसी युग में इमारतकारी के अद्वितीय शाहकार पेश किये हैं। संगीत के क्षेत्र में 'खयाल' जैसा विस्मयजनक आविष्कार इसी युग की देन है। तबला, सांरगी, सितार जैसे साज भी मध्ययुग से ही अस्तित्व में आये, जिनकी सूक्ष्मताएं आज यूरोप के संगीतकारों को भी मुग्ध कर रही हैं। चित्रकला, नृत्य, छंद शास्त्र और अन्य कई विद्याओं के नाम गिनाये जा सकते हैं। कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है, जिसमें हिंदुस्तानियों ने इस युग में भी आश्चर्यजनक प्राप्तियां न की

हों। इन्हीं के आधार पर हिंदुस्तान सोने की चिड़िया कहलाया था। हिंदुस्तान के कला-कौशल और उद्योग-धंधे संसार भर के आकर्षण की चीजें बने हुए थे।

इस बहुमुखी विकास का वैचारिक प्रेरणा-स्रोत हम भक्ति-लहर को कह सकते हैं। जिस प्रकार प्राचीनकाल में बौद्ध मत ने हमारे देश की जनता को नये ढंग से सोचने और जीने की प्रेरणा दी थी, उसी तरह मध्यकाल में संतों, भक्तों और सूफियों ने भी एक नया क्रांतिकारी चिंतन प्रदान करके सृजनात्मक शक्तियों के रास्ते साफ़ कर दिये थे।

भक्ति-लहर का अनमोल बिरसा हिंदुस्तान के चप्पे-चप्पे में बिखरा पड़ा है। कश्मीर में लल-दद, नुंद ऋषि (असली नाम शेख़ नूरुद्दीन), हब्बा ख़ातून, सिंध में शाह रसूल, शाहलतीफ़, पंजाब में शेख़ फ़रीद, गुरु नानक, बुल्लेशाह; गुजरात में नरसी भगत; उत्तर प्रदेश में कबीर, सूरदास रहीम, मीराबाई, तुलसीदास, महाराष्ट्र में संत ज्ञानेश्वर, तुकाराम, नामदेव, शेख़ मुहम्मद बाबा, बंगाल में जयदेव, रामानंद, चंडीदास - जनता के दिलों पर राज्य करने वाले नाम हैं। मुझे विश्वास है कि ऐसे नाम दक्षिण भारत में भी मिलेंगे, क्योंकि भक्ति लहर का जन्मस्थान दक्षिण भारत ही बताया जाता है। और इन नामों के नाम कोई सांप्रदायिक विशेषण नहीं जोड़ा जा सकता। हिंदू और मुस्लिम जनता को यह समान रूप से प्रिय हैं। इन की वाणी वर्तमान भारतीय भाषाओं का आधार हैं और इस में अमृत घुला हुआ है।

भक्ति-लहर

भक्ति लहर का युग एक अथाह सागर है। रवींद्रनाथ टैगोर और क्षितिमोहन सेन जैसे विद्वानों ने इस सागर में गहरे गोते लगाये हैं। मैं तो केवल इसके किनारे पर ही टहला हूँ और सिर्फ़ पंजाब की भक्ति लहर से ही थोड़ा बहुत परिचय प्राप्त किया है। लेकिन इतने से ही आश्चर्यचकित रह गया हूँ। इसके गौरव से मेरी आंखें चुंधिया गई है।

जिस हिंदू-मुस्लिम एकता, धर्मनिरपेक्षवाद, भावात्मक एकता, लोकवाद

और समाजवाद के लिए हम इतनी तीव्रता से लालायित हैं, उसका बीड़ा पंजाब के भक्त गुरुओं और संत-सिपाहियों ने कई सदियों पहले उठा लिया था। उदाहरण के तौर पर, गुरु गोविंद सिंह की वाणी में से कुछ पंक्तियों का उल्लेख करना चाहता हूँ:

देहुआ मसीत सोई पूजा ओ नमाज ओई
 मानस सभे एक पै अनेक को भ्रमाओ है।
 देवता अदेव जच्छ गंधर्व तुर्क हिंदू
 न्यारे न्यारे देसन के भेस को प्रभाओ है।
 एकै देह एकै वान, एकै नैन एकै कान
 खाक बाद आतश और आब को रत्नाओ है।
 अल्लाह अभेख सोई, कुरान और पुरान ओई
 एक ही सरूप सभै एक ही बनाओ है।

उदारता, सहनशीलता और धर्मनिरपेक्षता की इस से अधिक स्पष्ट शब्दों में व्याख्या कहाँ मिलेगी?

भक्ति लहर के अन्य सभी संतों-सूफियों की तरह गुरु गोविंद सिंह भी व्यक्ति-पूजा, मठवाद और अंधविश्वास के कड़े विरोधी थे। उन्होंने जोरदार शब्दों में कहा है:

जो मो को परमेश्वर उचरें
 ते जन नरक कुंड में परैं।
 मैं हूँ परम पुरख को दासा
 देखन आयो जगत तमासा।

दीन-दलितों को अपने बाहुबल से बादशाहों का मुक़ाबला करने और उनके सिंहासन छीनने योग्य बनाने के आदर्श का उन्होंने इस प्रकार वर्णन किया है :

चिड़ियों से मैं बाज लड़ाऊं
 राठन के संग रंक लड़ाऊं
 भूप गरीबन को कहवाऊं
 सवा लाख से एक लड़ाऊं
 तब गोविंदसिंह नाम धराऊं

और यह सिर्फ कागज़ी आदर्श नहीं था। इसे उन्होंने अपनी जीवन-तपस्या का अंग बनाया था। जो कहा, वह करके भी दिखाया।

गुरु अर्जुन देव और भाई गुरुदास द्वारा संपादित किया गया आदि-ग्रंथ थी, जिसे सिक्ख अपना ग्यारहवां गुरु मानते हैं, भावात्मक एकता की दिशा में उठाया गया एक ऐतिहासिक कदम था। इस में उत्तरी भारत के प्रमुख निर्गुणवादी, वेदांती और सूफ़ी संतों-दरवेशों की वाणी इकट्ठी की गई है। शेख़ फ़रीद, कबीर, रविदास, नामदेव (महाराष्ट्र), जैदेव, रामानंद (बंगाल) सबकी वाणी इस अपूर्व ग्रंथ में सुशोभित है। जिस पवित्र हरिमंदिर में इस ग्रंथ की स्थापना की गई, उसका बुनियादी पत्थर पीर मियां मीर के हाथों रखवाया गया था- वही महापुरुष, जिसने उपनिषदों का अनुवाद फ़ारसी में करवाया था। मैक्स मूलर के कथनानुसार, यूरोप को उपनिषदों का पता सब से पहले इन्हीं फ़ारसी अनुवादों द्वारा मिला था।

बहुत विशाल विरसा है यह। और इसे हमारी नज़रों में कभी ज़बर्दस्ती संस्थापक धार्मिकता के साथ जोड़ कर और कभी मध्यकालीन और छायावादी कहकर नगण्य बनाया गया है। हम सुशिक्षित लोग जिस हद तक इस विरसे से दूर हो गये हैं, उसी हद तक जनता से भी दूर हो गये हैं। अगर हम इस विरसे का गंभीरता से मूल्यांकन करें तो अतीत के युग-सत्य का वर्तमान के युग-सत्य से सहज ही सुमेल और संगम करा सकते हैं, सब द्वेषभाव मिटा कर अपने देश की सृजनात्मक शक्तियों के लिए नये सिरे से रास्ते खोल सकते हैं।

भक्त और सूफ़ी कवियों की सबसे बड़ी देन उनके भाषा और साहित्य संबंधी स्पष्ट और ठोस जनवादी दृष्टिकोण है। आज का कोई विद्वान उनमें नुकस नहीं निकाल सकता।

जन भाषा

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, जन भाषा के रूप में संस्कृत का रोल महात्मा बुद्ध के समय में ही ख़त्म हो गया था। उसका स्थान पाली-प्राकृत

ने ले लिया था। अर्थात् भाषा-विज्ञान की दृष्टि से पाली और प्राकृत संस्कृत का अधिक उन्नत और सजीव रूप थीं।

कितनी सदियां और गुज़र गईं। कितने उतार-चढ़ाव और आये। संसार के अन्य पदार्थों की भांति भाषाएं भी एक स्थान पर खड़ी नहीं रह सकतीं। मध्यकाल के आगमन तक पाली-प्राकृत भी विभिन्न प्रकार की प्रादेशिक अपभ्रंश भाषाओं में बंट गई थीं। संस्कृत अब पूर्ण रूप से निर्जीव और किताबी भाषा बन कर रह गई थी।

यह अपभ्रंश भाषाएं भी पाली-प्राकृत की भांति, पैदा तो संस्कृत की कोख से हुई थीं, लेकिन अब उससे उनकी नाल कट चुकी थीं। उनमें स्वतंत्र भाषाएं बनने की पूरी संभावना पैदा हो चुकी थी।

लेकिन उस समय का उच्चवर्ग - हिंदू चाहे मुस्लिम - इस संभावना को पसंद नहीं करता था। विद्या और संस्कृति पर ब्राह्मणों और काज़ियों ने अपना एकाधिकार जमाया हुआ था, और वे खुद राजाओं और सुल्तानों का दाहिना हाथ थे। उन्हें समाज में गति और विकास नहीं, बल्कि ठहराव चाहिए था। उनके वर्गहित तभी सुरक्षित रह सकते थे, अगर साधारण जनता अज्ञान, अंधविश्वास और आत्मग्लानि में डूबी रहे, उनकी मोहताज बनी रहे, धर्म और जात-पात के बंटवारे को ईश्वर का हुक्म मान कर स्वीकार किये रहे। इसलिए जन-भाषाएं उच्चवर्ग द्वारा घटिया करार दी जाती थीं।

लेकिन भक्तिकाल के संतों-दरवेशों ने इस साज़िश पर से पर्दा उठा दिया। वे अपनी आंखों के सामने ग़रीब जनता पर अन्याय और अत्याचार होते देख रहे थे। यह उनके लिए असह्य था। जनता को इससे छुटकारा दिलाने का एक ही रास्ता था- जनता के स्वामित्व को जागृत करना, उसके हाथों में किसी ऐसी विचारधारा का हथियार देना, जो उच्च वर्ग के इज़ारों को ख़त्म करने के लिए सुदर्शन-चक्र का काम दे।

इस क्रांतिकारी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने उन्हीं स्थानीय अपभ्रंश भाषाओं को अपने संदेश का माध्यम बनाया, जो अभी पूर्णरूप से विकसित नहीं हुई थीं। और ऐसे महान साहित्य का निर्माण किया कि

समय पाकर वे 'असभ्य' और 'गंवार' बोलियां संस्कृत और फ़ारसी के साथ कंधे से कंधा मिलाकर खड़ी होने के योग्य साहित्यिक भाषाएं बन गईं। यह शानदार करिश्मा एक ओर उनके अथाह जनप्रेम को-

जन की टहल, संभाखन जन सिउ

ऊठन बठन जन के संग।

जन चर रज मुख माथे लागी

आसा पूरन अनत तरंगा । - गुरु अर्जुन देव

और दूसरी ओर उनके अतीव विवेकपूर्ण और निर्भीक प्रगतिशील चिंतन को प्रमाणित करता है।

संस्कृत अंधा कूप है

भाखा बहता नीर । - कबीर

इसका यह मतलब हरगिज़ नहीं कि भक्त कवियों को संस्कृत या फ़ारसी से कोई द्वेष था। भाषाओं के प्रति वही लोग छोटे दिल का सबूत देते हैं, जिनके दृष्टिकोण फरसूदा हों। जब भी ज़रूरत महसूस हुई या मन में लहर उठी तो इन भक्त कवियों ने संस्कृत और फ़ारसी में भी ऊंचे स्तर की कविता की सृष्टि की। प्राचीन धर्मग्रंथों के प्रति उनके दिल में अथाह प्यार और श्रद्धा थी। लेकिन 'भाखा' में लिखते समय वे किसी आत्मग्लानि का अनुभव नहीं करते थे, और न ही उसके कारण अपनी शैली को शुद्ध संस्कृत या फ़ारसी से अलंकृत करने का प्रयत्न करते थे। इन भाषाओं में से वे असंख्य शब्द खुलदिली से लेते रहे। लेकिन प्रयोग करने से पहले वह उनका तद्भवीकरण या अपभ्रंशीकरण कर लेते थे, ताकि उनकी ध्वनि तथा रूप भाखा में बोझिल, अपरिचित या खटकने वाला न रहे।

यही रास्ता अंग्रेज़ी भाषा के विकास के लिए चौसर, स्पेंसर और शेक्सपियर जैसे महान साहित्यकारों ने अपनाया था। बड़े चाव से हर तरफ से नये शब्द ले लेना और तद्भवीकरण के रास्ते उन्हें अपने हाज़मे के अनुकूल पचा लेना, यह अंग्रेज़ी भाषा की पुरानी परंपरा चली आ रही है।

गोस्वामी तुलसीदास रचित *रामचरितमानस* शब्दों के तद्भवीकरण का सर्वोत्तम उदाहरण है। संस्कृत में लिखी गई *वाल्मीकि रामायण* को तुलसी दास ने पुरोहितों और पंडितों की कैद में से निकाल कर जनसाधारण की संपदा बना दिया। यही नहीं कि साहित्यिक दृष्टि से *रामचरितमानस* *वाल्मीकि रामायण* से किसी भी तरह कम नहीं, बल्कि उसे तुलसीदास की आश्चर्यजनक प्रतिभा और परिश्रम ने संसार-साहित्य का एक विशिष्ट ग्रंथ बनने का सम्मान दिलवाया है। शेक्सपियर के बारे में कहा गया है कि संसार में कोई ऐसी कहने लायक बात नहीं है, जो उसने अपने नाटकों में न कह दी हो। वही कथन तुलसीदास पर भी पूरा उतरता है। मानव-जीवन के गहन से गहन अनुभव, सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव और प्रकृति के अतीव मनोरम चित्र तुलसीदास के काव्य में पाये जाते हैं। लेकिन किसी स्थान पर भी उन्होंने अपनी शैली को संस्कृत के तत्सम शब्दों से बोझिल नहीं किया। उन्होंने सुरुचिपूर्ण ढंग से संस्कृत शब्दों के केवल तद्भव और अपभ्रंश रूपों का प्रयोग किया है। साहित्य सौंदर्य का इससे बढ़िया उदाहरण ढूँढे से नहीं मिल सकता।

हमारे पंजाब के भक्ति-साहित्य की परंपरा भी यही है। बल्कि गुरुनानक, भाई गुरुदास और बुल्लेशाह जैसे महान कवियों ने इस परंपरा को इतना परिपक्व बना दिया है कि वर्तमान पंजाबी साहित्य में संस्कृत और फ़ारसी के तत्सम शब्द कोशिश करने पर भी सुंदर नहीं लगते और पढ़ते समय बुरी तरह खटकते हैं।

यही प्रवृत्ति मैंने गुजराती मराठी, बंगाली आदि में भी देखी है। पहली नज़र में ये भाषाएं संस्कृत से लदी हुई प्रतीत होती हैं, लेकिन असलियत यह नहीं है। 'विस्माद' जैसा संस्कृत शब्द बंगाली में 'विशाद' बोला जाता है, चाहे लिखने में वह तत्सम ही प्रतीत हो। 'सभा-मौकूफी' शब्द मैंने आज के एक गुजराती समाचार-पत्र में से ले लिया है। कितनी आज़ादी के साथ संस्कृत के एक शब्द को फ़ारसी के साथ जोड़ दिया गया है। 'शिक्षा' शब्द का अर्थ मराठी में 'सज़ा' और 'साक्षर' शब्द का अर्थ गुजराती में 'साहित्यिक व्यक्ति' हो जाता है। हरकत, गनीम,

तहाकुब जकात, आमदार, खासदार, आदि शब्द मराठी में आम प्रयोग के शब्द हैं। ये फ़ारसी से आए हैं, ये और कहीं से, इस बात की किसी मराठी भाषी को परवाह नहीं है। शब्द चाहे संस्कृत का हो, या फ़ारसी का, मराठी व्याकरण के अनुसार ही उसका प्रयोग किया जाता है। यह बात मराठी भाषियों की खुलदिली और आत्मविश्वास का सबूत देती है।

शब्दों का तद्भवीकरण

जो बात पंजाबी, बंगाली, मराठी, गुजराती आदि के लिए उपयुक्त और सही है, मैं समझता हूँ कि वह उर्दू-हिंदी के लिए भी उतनी ही सही होनी चाहिए। शुद्ध संस्कृत और शुद्ध फ़ारसी को हज़म करना खड़ी बोली के लिए भी उतना ही मुश्किल है। खड़ी-बोली वालों को भी संस्कृत-फ़ारसी और उसके व्याकरण की दासता से छुटकारा पाना चाहिए। इन भाषाओं में से लिये गये शब्दों का अपनी भाषा के स्वभाव के अनुसार अपभ्रंशीकरण या तद्भवीकरण बहुत ज़रूरी है। ऐसा न करना भाषा को निर्जीव और दुर्बल बनाना है। इस बारे में जब तक आप अपना दृष्टिकोण नहीं बदलेंगे, तब तक आप तटवर्ती इलाकों की भाषाओं के साथ आंख नहीं मिला सकेंगे, अंग्रेज़ी को गर्दन से पकड़ना तो अलग रहा।

कहने का मतलब यह, मेरे प्यारे दोस्तों, कि आपकी वर्तमान हिंदी शैली, जिसमें संस्कृत का अंधाधुंध प्रवेश और फ़ारसी शब्दों का अंधाधुंध बहिष्कार हो रहा है, उसकी उन्नति या विकास का सूचक नहीं है। इस रुझान की बदौलत यह शैली आपके अपने प्रांत में भी, और बाकी भारत की जनता के लिए भी प्रिय होने के बजाय अप्रिय बनती जा रही है। इस असलियत को आप जितनी जल्दी समझ सकें, उतना ही आपके लिए अच्छा है।

लिपि की समस्या

लिपि की समस्या के बारे में भी भक्तिकाल और मध्यकाल की पृष्ठभूमि को देखने पर बहुमूल्य संकेत मिलते हैं और पता चलता है कि हमारे पूर्वज

इस दिशा में भी धार्मिक पक्षपात से बिल्कुल मुक्त थे।

मुग़ल साम्राज्य के समय से फ़ारसी सारे उत्तर भारत की राज्य भाषा बनी रही। उस साम्राज्य को मराठों और सिक्खों के आंदोलनों ने गहरी चोट पहुंचाई। लेकिन छत्रपति शिवाजी और महाराज रणजीतसिंह ने अपने स्वतंत्र राज्य स्थापित करने पर भी राज्यभाषा का दर्जा फ़ारसी को ही दिया। इससे उनकी उदार और असांप्रदायिक मनोवृत्ति का अनुमान भलीभांति लगाया जा सकता है। हम यह भी देख चुके हैं कि किस प्रकार अरबी लिपि सिंधी हिंदुओं और मुसलमानों को हमेशा से एक सी प्यारी रही है।

सैकड़ों सालों से सारे उत्तरी भारत में स्थानीय लिपियों के साथ-साथ फ़ारसी लिपि का भी प्रयोग होता रहा है, कहीं ज़्यादा, कहीं कम। पंजाब और उत्तर प्रदेश में ज़्यादा, क्योंकि यह इलाके शासन-केंद्र के निकट थे। बंगाल और महाराष्ट्र जैसे दूर के इलाकों में कम। लिपियों के संबंध में लोगों में किसी प्रकार का परस्पर विरोध नहीं था। आज जैसे रोमन लिपि हमारे लिए विदेशी और पराई लिपि नहीं रह गई है, इसी प्रकार, सदियों से प्रयोग में आने पर, फ़ारसी लिपि भी, मुगल वेशभूषा की तरह, भारत की अपनी चीज़ बन गई थी। हम नहीं कह सकते कि शेख़ फ़रीद ने अपनी रचना फ़ारसी लिपि में की थी या गुरुमुखी लिपि में, यद्यपि आज वह गुरुमुखी में प्राप्त है। वारिसशाह के बारे में हम किसी हद तक दावे के साथ कह सकते हैं कि हीर-रांझा का किस्सा उन्होंने फ़ारसी लिपि में लिखा होगा। हो सकता है कि बुल्लेशाह ने भी फ़ारसी लिपि का उपयोग किया हो, या शायद दोनों ही लिपि का उपयोग किया हो, या शायद दोनों ही लिपियों में लिखा हो। किसी भी पंजाबी को इस बात से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। उसकी भाषा की यह दोनों ही ऐतिहासिक लिपियां हैं। पंजाबियों को अपने महान कवि हर हालत में प्रिय हैं और यह प्यार अटूट है।

पश्चिमी पाकिस्तान में फिर से सूबे कायम कर दिये गये हैं। ईश्वर ने चाहा तो वहां भी पंजाबी को अपना अधिकार मिल कर रहेगा, जैसे कि

बंगाली को मिला हुआ है। लेकिन इसका यह मतलब बिल्कुल नहीं कि वहां गुरुमुखी लिपि भी क़बूल की जायेगी। अगर की जाये तो बहुत अच्छा है, क्योंकि बंगाली की तरह, वह विशेष रूप से अपनी भाषा के लिए ही जन्मी और विकसित हुई लिपि है। लेकिन अगर उसे क़बूल नहीं किया जाता तो किसी हिंदुस्तानी पंजाबी को एतराज़ नहीं हो सकता, क्योंकि वह जानता है कि पंजाबी के लिए फ़ारसी लिपि भी सदियों से प्रयोग की गई है। भूतकाल में भी यह दोनों लिपियां साथ-साथ चलती रही थीं, और आज के ज़माने में भी बड़ी खुशी से इन दोनों का प्रयोग कर सकते हैं।

इसी तरह आपके प्रांत, उ.प्र. में भी फ़ारसी और नागरी दोनों ही लिपियां सदियों से बहनों की तरह साथ-साथ रहती आई हैं। कौन कह सकता है कि अमीर खुसरों ने अपने दोहों और अन्य रचनाओं के लिए किस लिपि का प्रयोग किया होगा? वे प्रसिद्ध दरबारी कवि थे। उनका फ़ारसी में लिखना ज़्यादा यकीनी प्रतीत होता है। मलिक मोहम्मद जायसी ने ज़रूर पद्मावत लिखते समय नागरी लिपि का प्रयोग किया होगा। लेकिन इस बात से कोई फ़र्क नहीं पड़ता। दोनों ही हिंदी के महान कवि हैं। उर्दू उच्च वर्ग और शहरी लोगों की लाड़ली बनती गई। लेकिन उसमें लिखने वाले कवि मुसलमान भी थे और हिंदू भी। यहां तक कि अंग्रेज़ भी थे। इस तरह फ़ारसी लिपि के साथ अन्याय या द्वेष करना आपको भी किसी प्रकार शोभा नहीं देता।

हम ऊपर देख आये हैं कि खड़ी बोली तभी विकसित हुई, जब सरकार-दरबार में उसे सम्मान मिलने लगा। और तब वह ज़्यादातर फ़ारसी लिपि में ही लिखी जाती थी और उर्दू कहलाती थी। अगर आपने आधुनिक हिंदी के लिए ब्रज और अवधी जैसी महान भाषाओं को हटाकर (उन्हें उपभाषाएं करार दे कर), खड़ी बोली को ही अपनाया था तो उसके लिए फ़ारसी लिपि को भी खुले दिल से अपना लेना उचित था। द्वि-लिपिया भाषा होने से हिंदी-उर्दू का कुछ भी नहीं बिगड़ जाता।

यह बात आपको चाहे कितनी ही कड़वी लगे, लेकिन कहना ही

पड़ेगा कि जिस सिंहासन पर आप इस समय अधिकार जमाये बैठे हैं, वह आप को सांप्रदायिक राजनीति और देश के बंटवारे की बदौलत मिला है। उस पर विराजमान होकर आप कभी भी असांप्रदायिक होने का दावा नहीं कर सकते। आपकी आने वाली पीढ़ियां आपके इस दावे को झुठलायेगी। उर्दू का हक मार कर उत्तर प्रदेश के लोगों ने न ही पाकिस्तान को अंगूठा दिखाया है, और न ही मुसलमानों की गर्दन मरोड़ी है, उन्होंने अपनी पवित्र मातृभाषा का अपमान किया है, और अपने सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास पर कुल्हाड़ी मार ली है। ज़बर्दस्ती हासिल किये गये हक क़ानून तो क़रार दिलाये जा सकते हैं (बशर्ते कि क़ानून पर ज़ोर चलता हो), लेकिन नैतिक क़रार नहीं दिये जा सकते।

अगर आप अब भी सचेत हो जायें और वह रास्ता छोड़ने का साहस करें, जो हर प्रकार से गलत है; अगर आप अपनी पिता-पुरखी परंपराओं का सम्मान करते हुए उत्तर प्रदेश के लिए फ़ारसी और नागरी दोनों ही लिपियों को स्वीकार कर लें; अगर आप दोनों ही शैलियों को संस्कृत और फ़ारसी की गुलामी से आज़ाद करा लें, और अपनी भाषा का वैसे ही विकास करें, जैसे बंगाली या अंग्रेज़ी का हुआ है, या जैसे भूतकाल में आपके महान लेखक करते रहे हैं, तो निःसंदेह आप बहुत जल्द दोनों शैलियों को आपस में मिला सकते हैं, और उन्हें फिर से जनता की बोलचाल की भाषा और मुहावरे में ढाल सकते हैं। इस प्रकार आप भारतीय परिवार की अन्य भाषाओं के साथ आदान-प्रदान कायम कर सकते हैं। आप खुद भी समृद्ध बन सकते हैं, उन्हें भी समृद्धि प्रदान कर सकते हैं। आपका शब्द-भंडार तुलसी और ग़ालिब दोनों को अपने अंदर समेट कर बाक़ी सारी भारतीय भाषाओं की नज़र में एक अनोखी विराट और शक्तिशाली भाषा का स्थान ग्रहण कर सकता है। आपके शहर - दिल्ली, आगरा, लखनऊ और बनारस - इस दौर में भी वही शान हासिल कर सकते हैं, जो उन्होंने अकबर, शाहजहां, तुलसी और कबीर के ज़मानों में हासिल की थी। आप भारत माता की कंठमाला का सबसे कीमती मोती हैं। अपने घर से सांप्रदायिक वैर-विरोध दूर करके आप भारत के

इतिहास को एक नया मोड़ दे सकते हैं, उसे एकता और सच्ची आज़ादी की ओर ले जा सकते हैं।

लेकिन अगर आप नहीं संभलेंगे तो नीम-मुर्दा साम्राज्यवादी नीतियों को, आज़ादी के युग में भी जिंदा रखने का इल्ज़ाम आपके सिर आयेगा। देश में जो नफ़रतों का ज़हर बढ़ता जा रहा है, वह और बढ़ जायेगा, गांधी, नेहरू, सुभाष बोस और उनके असंख्य साथियों की कुरबानी अंधे कुएं में पड़ जायेगी।

मैं जानता हूँ कि सज़ाद ज़हीर और कृशनचंदर जैसे प्रगतिशील लेखक किसी हालत में भी उर्दू के सवाल को सांप्रदायिक राजनीति के साथ जोड़ना नहीं चाहते; लेकिन अपने घर से ज़बर्दस्ती बेघर की गई इस भाषा को, जिसकी उन्होंने सारी उम्र सेवा की है, कहीं न कहीं सिर छिपाने के लिए जगह ढूँढ कर देना वे अपना फ़र्ज समझते हैं। आपके ठंडे रूखे रवैये की प्रतिक्रिया में वे भी भारी ग़लतियां कर बैठते हैं। उर्दू-कन्वेंशन करने के लिए उन्हें महाराष्ट्र भागना पड़ता है। उत्तर प्रदेश में दाल ग़लती न देख कर वे उर्दू को अन्य प्रांतों से दूसरे नंबर की प्रांतीय भाषा बनवाने की उपहासजनक और मूर्खतापूर्ण कोशिशें करते हैं। मैं उनकी सख़्त आलोचना करता हुआ भी, उनके दिल के दुख और मजबूरी को समझ सकता हूँ।

लेकिन फिर भी, मैं उन्हें माफ़ नहीं कर सकता। आपकी तरह उन्हें भी अपनी बंद की हुई आंख खोलने की ज़रूरत है। उन्हें भी उर्दू संबंधी अपनी इकहरी, अधूरी, सामंतशाही और फ़ारसी परस्त परिभाषाएं छोड़ने की ज़रूरत है। तभी, वे भी अपने व्यक्तिगत छोटे-छोटे हितों के संकुचित घेरे में से निकल कर देशहित को ग़र्क़ होने से बचा सकेंगे। जिन प्रांतों की मातृभाषा उर्दू नहीं है, उनमें उर्दू नहीं है, उनमें उर्दू को हक़ मनवाने की कोशिश करना, उर्दू को मुस्लिम अल्प-संख्या से जोड़ना है। अगर उर्दू पंजाबियों या बंगालियों की भाषा नहीं है, तो वह मराठों, गुजरातियों, तेलगुओं, तमिलों और केरलियों की भी भाषा नहीं हो सकती, चाहे वे हिंदू हों या मुसलमान। इन प्रांतों के मुसलमानों का कल्याण इसी में है कि वे

अपनी मातृभाषा के साथ प्यार करें, जितना बंगलादेश के बंगाली को अपनी मातृभाषा से है। अगर वे ऐसा नहीं करेंगे, तो हिंदू संप्रदायवादियों को साफ़ तौर पर यह कहने का बहाना मिलेगा कि मुसलमान अभी तक उर्दू को मिस्टर जिन्ना के दृष्टिकोण से देखते हैं, और खुद को एक अलग क़ौम समझते हैं। इस तरह नफ़रतें बढ़ेंगी, जिनके भयानक नतीजों की ओर से लापरवाह होकर कोई भी व्यक्ति लेखक या साहित्यकार कहलाने का हक़दार नहीं रहता। उर्दू का जन्मसिद्ध अधिकार उसे उत्तर प्रदेश में ज़रूर मिलना चाहिए; क्योंकि वह यहां की मातृभाषा है। उत्तर प्रदेश में निस्संदेह उर्दू को हिंदी के बराबर का स्थान मिलना चाहिए। इस बात से कोई न्यायशील व्यक्ति इन्कार नहीं कर सकता। उर्दू-हिंदी का आपस में कोई फ़र्क़ नहीं है और कोई बैर नहीं है। वह दो लिपियों में लिखी जाने वाली एक भाषा है- उसी तरह, जैसे पंजाबी। दोनों शैलियों को एक-दूसरी के निकट लाने के लिए उत्तर प्रदेश के सभी देशभक्त, लोकवादी, प्रगतिशील लेखकों को प्यार-मोहब्बत से मिल-बैठ कर सोच-विचार करना चाहिए, क्योंकि यह इनकी क़ौमी इज़्जत और ग़ैरत का सवाल है। यह उनके घर का अंदरूनी मामला है। उत्तर प्रदेश के बाहर के हिंदी-उर्दू के लेखकों को इस झगड़े से अलग हो जाना चाहिए-किसी हमदर्द लेकिन चुप मेहमान की तरह। तभी उत्तर प्रदेश वाले अपनी गाड़ी को इस कीचड़ में से खींचकर निकाल सकेंगे जिसमें ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने उसे आज से सौ साल पहले फंसा दिया था। उत्तर प्रदेश में जब प्यार और इंसाफ़ की गंगा बहेगी तो सारे देश का वातावरण सुधरेगा, क्योंकि वहीं की भाषा को एक दिन भारत की राष्ट्रभाषा बनने का कठिन और महान रोल अदा करना होगा। यह रोल और कोई भाषा अदा नहीं कर सकती। लेकिन आज उस मंज़िल तक पहुंचने के लिए हिंदी-उर्दू को बड़ी कठिन तपस्या करनी होगी। गुरुकुलों और गऊशालाओं वाली तपस्या नहीं, बल्कि अणु-युग की सामाजिक और तकनीकी ज़रूरतों को समझने की तपस्या। इस बड़े मोर्चे पर हिंदी का मुक़ाबला अंग्रेजी के साथ है, किसी छोटे-मोटे पहलवान के साथ नहीं। केवल संस्कृत का शब्द-कोश हाथ में लेकर यह मोर्चा जीता

नहीं जा सकेगा। वह तो उस प्रकार की खुशफ़हमी होगी, जिसके शिकार मेरे गुरुकुल के आचार्य जी थे, जो अष्टाध्यायी के सूत्र रटवाते समय हमें बताया करते थे कि किस प्रकार जर्मन लोग भारतवर्ष में से वेद चुरा कर ले गये, और उनमें से रेल, इंजन, हवाई जहाज़, रेडियो और अन्य कई प्रकार के यंत्रों का ज्ञान निकाल कर यूरोप के देशों में बेच दिया।

(यह आलेख दिल्ली के एक प्रेस से 1972 में पुस्तिका की शक्ति में प्रकाशित हुआ था।)

isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,

62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका

नई दिल्ली-110067

टेलीफोन 011-26196356, टेलीफैक्स 011-26177904

ईमेल : notowar@rediffmail.com

केवल सीमित वितरण के लिए